

चिन्तन-सृजन

त्रैमासिक

वर्ष 2 अंक 3

जनवरी-मार्च 2005

सम्पादकीय परामर्शदात्री समिति

डॉ. लोकेशचन्द्र

निर्मल वर्मा

यशदेव शल्य

जे.एन.राय

सम्पादक

बी. बी. कुमार

आस्था भारती

दिल्ली

वार्षिक मूल्य :

व्यक्तियों के लिए	60.00 रुपये
संस्थाओं और पुस्तकालयों के लिए	150.00 रुपये

एक प्रति का मूल्य

व्यक्तियों के लिए	20.00 रुपये
संस्थाओं के लिए	40.00 रुपये

विज्ञापन दरें :

बाहरी कवर	10,000.00 रुपये
अन्दर कवर	7,500.00 रुपये
अन्दर पूरा पृष्ठ	5,000.00 रुपये
अन्दर का आधा पृष्ठ	3000.00 रुपये

आस्था भारती

12/604 ईस्ट एंड अपार्टमेन्ट

मयूर विहार फेस-1 विस्तार

दिल्ली-110096

से आस्था भारती के लिए डॉ. बी.बी. कुमार, सचिव द्वारा प्रकाशित तथा विकास कम्प्यूटर एण्ड प्रिण्टर्स, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32 द्वारा मुद्रित।

फोन : 011-22712454

अणु डाक : asthab@vsnl.net

वेब साइट : asthabharati.org

चिन्तन-सृजन में प्रकाशित सामग्री में दृष्टि, विचार और अभिमत लेखकों के हैं। सम्पादक की सहमति अनिवार्य नहीं है।

अनुक्रम

सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य	5
1. हिन्दी में विचार डॉ. मुकुन्द लाठ	7
2. बौद्ध मूल्य और मानव के करणीय कार्य प्रोफेसर लोकेशचन्द्र	25
3. आचार्य शुक्ल की रस-दृष्टि डॉ. कुमार विमल	37
4. अपने सृजन से गुजरते हुए नरेन्द्र कोहली	45
5. नेपामूल भारतीय : दिशा और अस्मिता की तलाश में प्रोफेसर ए. सी. सिन्हा	57
6. पैशाची का भाषा भूगोल प्रोफेसर राजमल बोरा	65
7. राम को न भूलो! शंकर पुणतांबेकर	81
8. भाषिक अक्षरता और बीजाक्षर तत्त्वदर्शन नन्दलाल मेहता 'वागीश'	84
9. हिन्दी की पारिभाषिक शब्दावली का व्यावहारिक-सन्दर्भ डॉ. कृष्णचन्द्र गोस्वामी	87

10. वैज्ञानिक निबन्ध : उद्देश्य और स्वरूप डॉ. दिनेश मणि	93
11. 'मैला आँचल', मलेरिया और डागडर बाबू डॉ. सकलदेव शर्मा	99
12. पाठकीय प्रतिक्रिया	113

सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य

आखिर हम जा कहाँ रहे हैं?

पिछले दिनों भारत के गृहमंत्री शिवराज पाटिल सिक्किम गये थे। उनके जाने के पहले वहाँ जोरों की चर्चा थी कि सिक्किम को शांत राज्य बने रहने के लिए वे शांति बोनस (peace bonus) देने की घोषणा करेंगे। इस गलत परम्परा का प्रारंभ पिछली केन्द्रीय सरकार ने मिजोरम को शांति के लिए बोनस देकर की थी। ध्यातव्य है कि सिक्किम कुछ वर्ष पहले पूर्वोत्तर परिषद का सदस्य बन गया है। विकास के लिए उसे भी पूर्वोत्तर भारत के अन्य राज्यों की तरह ही पूर्वोत्तर परिषद से पैसे मिलने लगे हैं। सिक्किम पूर्वोत्तर के अन्य राज्यों की तरह ही राज्यों की विशेष श्रेणी (special category state) में आता है, इसे भी विकास के लिए केन्द्र से प्राप्त राशि का 90% अनुदान तथा 10% ऋण के रूप में मिलता है। इस श्रेणी के बाहर के राज्यों को 30% ही अनुदान तथा शेष 70% ऋण के रूप में प्राप्त होता है।

पूर्वोत्तर के कई अन्य राज्यों की तरह ही सिक्किम एक छोटा राज्य है जिसका क्षेत्रफल देश के अन्य राज्यों के एक जिला तथा जनसंख्या उनकी तहसील की जनसंख्या के लगभग बराबर है। आजादी के बहुत बाद तक मिजोरम, मणिपुर, त्रिपुरा एवं नागालैण्ड की तरह सिक्किम में भी मात्र एक जिला हुआ करता था। मेघालय असम के दो जिलों को ही मिलाकर बनाया गया था। इक्के दुक्के जिलों को पूर्ण राज्य का दर्जा देने के बाद वहाँ प्रशासनिक तंत्र का अभूतपूर्व फैलाव हुआ। राजभवन, विधान सभा, सचिवालय, बीसों निदेशालय, कई कई जिले, इन्हें चलाने वाले हजारों लोग। प्रशासनिक तंत्र का इतना अधिक सघन फैलाव कि विकास के लिए दी जानेवाली अधिकांश धनराशि को पूर्वोत्तर के अधिकांश राज्यों में सरकारी तंत्र खा जाता है। विकास का लाभ समाज के निम्नतम वर्ग तक पहुँच नहीं पाता। जनता के लिए दी जानेवाली धनराशि का गलत रिसाव तो होता ही है।

पूर्वोत्तर भारत के राज्यों में प्रशासन के इतने सघन तंत्र तथा विकास के लिए केन्द्र द्वारा इतना अधिक संसाधन दिए जाने पर भी विगड़ती व्यवस्था तथा विकास का अभाव चिन्ताजनक है। निश्चय ही हम फिसलन भरी ढलान पर चल रहे हैं; हम लगातार गलतियाँ करते जा रहे हैं।

नागालैण्ड बनने के बाद हमने उदारतापूर्वक केन्द्रीय संसाधन देकर वहाँ संसाधन-सम्पन्न क्षेत्र का निर्माण किया। अगल-बगल के क्षेत्रों में संसाधनों का अभाव बना रहा। पूर्वोत्तर में प्रारंभ में ही हमने दो गलत संकेत दिए। पहला कि “हिंसा लाभकारी होती है, violence pays”। हमने इसका प्रतिकार करना तो दूर रहा, शांति का बोनस देकर उस संकेत को सशक्त बनाया है। राज्य में शान्ति बनाए रखना राज्य

सरकार का मौलिक कार्य होता है। आखिर शान्ति के लिए राज्य को दिया जानेवाला बोनस घूस नहीं तो क्या है? शान्ति के लिए दिया जानेवाले बोनस किस प्रशासनिक सिद्धान्त के आधार पर दिया गया था, इसे हमें जानने का अधिकार तो है ही। हमारी सरकार ने एक दूसरा गलत संकेत पूर्वोत्तर भारत में लगातार संप्रेषित किया है कि “राष्ट्र की मुख्यधारा से दुराव, उससे दूरी बढ़ाना, लाभकारी होता है (social distancing pays)।

ल्याल, रिस्ते, गेट आदि अंग्रेज उच्चाधिकारियों ने कभी सोचा भी नहीं होगा कि भारत स्वतंत्र होगा और यदि होगा भी तो उनके द्वारा प्रचलित उपनिवेशवादी सिद्धान्तों को इस देश के नेता, प्रशासक एवं बुद्धिजीवी इतने जोर से पकड़े रहेंगे। आजादी के बाद भी हमें एल्विन के रूप में गलत सलाहकार मिला। हमारी नस्लवादी सोच (विशेषकर पूर्वोत्तर में), मुख्यधारा एवं सीमान्त के टकराव (core-fringe conflict) का सिद्धान्त, इतिहास एवं समाज की उपनिवेशवादी दुष्ट व्याख्या आदि हमारा पिण्ड नहीं छोड़ रही है। एक गलत किस्म की मनोवृत्ति (wrong mind-set) की जकड़न लगातार बढ़ रही है; हमारी समस्याएँ भी लगातार बढ़ रही हैं। हम एक दूसरे को जोड़नेवाले तन्तुओं, अपने बीच के समाजिक सेतुओं, अपनी सामाजिक सोच एवं मूल्य व्यवस्था लगातार कमजोर करने, उन्हें तोड़ने का प्रयत्न किए जा रहे हैं। इसका बुरा प्रभाव पूर्वोत्तर भारत में, विशेषकर असम में, देखा जा सकता है। हमने अपनी गलत नीतियों, नेतृत्व एवं प्रशासन की अदूरदर्शिता एवं बौद्धिक दरिद्रता के चलते असम राज्य ही नहीं वहाँ के समाज को भी अस्थिर एवं कमजोर कर दिया है। असम में जो लोग सदियों तक सम्पूर्ण सौहार्द बनाकर साथ साथ रह रहे थे, जिन्होंने इतनी सुन्दर असमिया संस्कृति का विकास मिलजुलकर किया था, सभी महान संत शंकरदेव के शिष्य हैं, वे आज अलगाव की भाषा बोल रहे हैं। हमने उन्हें यह गलत संकेत दिया है कि अपने को लगातार अलग दिखाकर लाभ पाओ। असम में राज्यों/जनजातीय परिषदों की माँग के पीछे यही सोच काम करती रही है। यही नहीं, इस रोग का क्षेत्र विस्तार भी होता रहा है।

अभी-अभी कुछ जातियों ने ‘जनजाति’ का दर्जा पाने का प्रयत्न शुरू किया है। उनकी माँग आर्थिक या विकास की कसौटी पर जाँची जानी चाहिए और उसे ही उनकी माँग के स्वीकार या अस्वीकार का आधार बनाया जाना चाहिए। ऐसा न करके उनकी माँग को इस आधार पर अस्वीकार करना कि उनके पुरोहित ब्राह्मण हैं, उन्हें यह गलत संकेत देता है कि “ब्राह्मण पुरोहितों को छोड़ो, अपने को हिन्दू न कहो और जनजाति होने का लाभ बटोरो”। स्पष्टतः इस देश को चलानेवाले इसे फिसलनभरी ढलान पर ढकेल रहे हैं। क्या रुक कर सोचने का समय नहीं आया है कि ‘आखिर हम जा कहाँ रहे हैं?’

ब्रज बिहारी कुमार

हिन्दी में विचार

मुकुन्द लाठ*

यह ठीक है कि विचार के लिए भाषा जरूरी है, पर यह सोचना ठीक नहीं है कि विचार किसी विशेष भाषा में ही हो सकता है जैसे कि अंग्रेजी में, चाहे हममें आज यही संस्कार बद्धमूल हो गया हो। तभी हिन्दी में विचार एक प्रश्न या समस्या जैसी चीज बन खड़ी हुई है। मुझे याद है, जवाहर लाल नेहरू यूनिवर्सिटी से जुड़े किसी एक विद्वान मित्र ने इसी समस्या पर एक चर्चा-गोष्ठी का आयोजन किया थाकई लोगों को बुलाया था; बड़े अनुष्ठान का आयोजन किया था। मैं तो नहीं जा पाया, पर चर्चा की भूमिका के रूप में उन्होंने जो उद्देश्य-पत्र भेजा था, उसमें मर्म की बात यह थी कि हिन्दी में विचार को बढ़ावा देने के लिए क्या नीति अपनाई जाए और उसके लिए सरकार हमारी सत्ताक्या करे। मैं गोष्ठी में तो नहीं जा पाया, पर मन में एक सवाल उठा जो गोष्ठी के आयोजक मित्र के सामने भी मैंने रखा। मैंने पूछा, हिन्दी में विचार करने से रोकता कौन है? कीजिए हिन्दी में विचार! उन्होंने कोई उत्तर नहीं दिया। इसका कोई उत्तर है भी नहीं। पर सरकार कैसे हमसे हिन्दी में विचार करवा सकती है? जहाँ तक विचार का प्रश्न है, हमारी सरकार तो यों भी अंग्रेजी को ही समर्पित रही है, चाहे राष्ट्रभाषा के नाम की औपचारिक चर्चा भी दिखावे की तरह सरकार करती रहती है। पर दूसरी ओर सरकार और हम कुछ सोचते-समझते नागरिक भी आज अंग्रेजी को अपने लिए नेमत मान रहे हैं : एक बड़ा तबका है जो भारत में अंग्रेजी के प्रचार को भारत का सौभाग्य मान रहा है। आज 'आउटसोर्सिंग' के नाम पर जो बाहर की कम्पनियों से अच्छे पैसे मिल जाते हैं, हमारे तरुण-तरुणियों को बाहर भी कम्प्यूटर कम्पनियों में महंगी नौकरियाँ मिल जाती हैं, इसे हमारी अंग्रेजी-निष्ठा का ही प्रताप माना जा रहा है। पर यह तो अंग्रेजी के प्रति आत्मसमर्पण को बनाए रखने का एक बहाना है। एक सफाई है। हमारा अंग्रेजी-प्रेम और गहरा है, अच्छी नौकरी के लिए अंग्रेजी सीख लेने तक सीमित नहीं हैयह तो छोटी-सी बात है, और समझ में आती है। यों भी आउटसोर्सिंग या कम्प्यूटर-दक्षता के लिए जैसी भाषा चाहिए, उसका विचार से कोई सम्बन्ध नहीं है। इस बात को लेकर राष्ट्र की अंग्रेजी-निष्ठा का महिमा-गान, यह बात जरूर अंग्रेजी के प्रति निर्विचार भक्ति की द्योतक है।

* लेखक प्रख्यात चिन्तक एवं 'उन्मीलन' पत्रिका के संपादक हैं।

सच पूछिए तो हमारी अंग्रेजी-निष्ठा का बीज विचार में ही हैहमारी विचार-शीलता ही अंग्रेजी-परस्त हो गई है। रोजमर्रा के घरेलू-बाजारू व्यवहार से हटकर हम कुछ भी गहरा सोचना-समझना चाहते हैं तो बात जब तक अंग्रेजी में न कही जाए, उसे कहा गया ही नहीं समझते। हिन्दी में हम सोचते भी हैं तो अंग्रेजी से आए विचार का, प्रत्ययों का, प्रत्यय-योजनाओं, उनके पीछे निहित दृष्टियों का अनुवाद भर करते चलते हैं, उस विचार पर विचार नहीं करते। यों विचार की भाषा वास्तव में अंग्रेजी ही रह जाती है। समाज, राजनीति, विज्ञान, दर्शनविचार का कोई भी क्षेत्र हो, जगत् या आत्म या मनुष्य, विचार हमारा अंग्रेजी-के-माध्यम-से आया, पश्चिम-दृष्ट विचार रहता है। आजादी के बाद यह बात और बढ़ती जा रही है, जब कि आजादी के पहले हममें यह बोध था, संकल्प था कि हमारा स्वराज केवल राजनीति या अर्थनीति तक सीमित नहीं होगा, हमारे स्वराज की धरती हमारा स्वधर्म होगाहमारे अपने स्वभाव, अपनी संस्कृति में पलेगा, हमारी अपनी प्रतिभा उसे नया उन्मेष देगी। पर अब वह बात इतिहास की बात रह गई है। हम जिसे भारत का पुनर्जागरण कहते हैं, जहाँ अपनी स्वातन्त्र्य-प्रेरणा का स्रोत भी पाते हैं, वहाँ विचार का स्वराज भी देख पाते हैंऐसा स्वराज जो बाहर के प्रभाव को स्वायत्त कर उसे अपने लिए नई शक्ति का आधार बनाने का भी सामर्थ्य रखता है। पर आज वह जागरण सुषुप्त है। हम राज्य-संचालन में पश्चिम से स्वतन्त्र होकर और भी पश्चिम-धर्मी हो गए हैंऔर मानो बिना किसी द्विधा के। पश्चिम अपनी सभ्यता-संस्कृति को विश्वजनीन (ग्लोबल) कहता हैपहले भी कहता था, जब हम स्वतन्त्र नहीं थे, पर पहले हम उसके दंभ-भरे भुलावे में नहीं आते थे, आज स्वतन्त्र हैं तो उन्मुक्त बेहिचक उसके स्वर में स्वर मिलाते हैं।

हम यह भी सोचते कहते हैं कि विचार के लिए भाषा तैयार होनी चाहिए : अंग्रेजी तैयार है, हिन्दी नहीं। यह सच भी है कि विचार के लिए भाषा में एक प्रौढ़ता, एक प्रगल्भता अपेक्षित है। पर यह अलग से नहीं आती, विचार से ही आती है। ऐसा नहीं है कि कोई भाषा स्वभाव से ही विचार-समर्थ होती है (जैसे अंग्रेजी), और दूसरी नहीं होती (जैसे हिन्दी), और उसे पहले इस योग्य बनाना पड़ता है कि विचार-क्षम हो। हम विचार करने लगे तो भाषा में विचार की शक्ति जागने लगती है। फिर हिन्दी के पीछे तो संस्कृत में चिन्तन की इतनी लम्बी और व्यापक परम्परा है जो पश्चिम में अनुपलब्ध है। शब्दों का, विचार की गतियों का समृद्ध संचार है, जो आज भी जीवंत है। हिन्दी में ऐसी परम्परा नहीं है। पर परम्पराएँ तो बनाने से बनती हैं। अंग्रेजी में विचार की परम्परा कोई पुरानी नहीं हैहिन्दी की तरह ही पहले अंग्रेजी में साहित्य ही था, विचार नहीं। अंग्रेजी में बाकायदा विचार का चलन दो-ढाई सौ साल का ही है, पहले तो शेष यूरोप की तरह अंग्रेज लैटिन में ही विचार करता था, और वह परम्परा भी न हमारी परम्परा जितनी पुरानी है, न उतनी विपुल। हम हिन्दी में परम्परा

के बीज डाल सकते हैं। एक नई भाषा में हम विचार करने लगे तो विचार की नई सम्भावनाएँ भी खुलती हैं। अब तक की परम्परा को एक नई दिशा मिल सकती है। यूरोप की विभिन्न भाषाओं में विचारजो अपेक्षया नया ही है एक नई प्रतिभा का संदेश भी लाया है। जर्मन को लीजिए। जर्मन अंग्रेजी या फ्रेंच की तरह लैटिनिक भाषा नहीं है, और यूरोप में विचार की परम्परा लैटिन में ही होती आई है। जर्मन की शब्दावली बहुत कुछ अपनी है। पर जर्मन में जो विचार हुआ है, वह यूरोप के ही नहीं विश्व के दर्शन-मनन में अपना अलग महिम स्थान रखता है। जर्मन में विचार करते हुए हेगेल विचार के माध्यम के रूप में जर्मन को स्वभाव से ही अधिक सत्यदर्शी के रूप में महत्त्व देते हैं। अपने प्रसिद्ध ग्रंथ **लॉजिक** की भूमिका में कहते हैं कि “जर्मन में कई शब्दों का परस्पर भिन्न ही नहीं, परस्पर-विपरीत या प्रतीप अर्थ भी होता है।” लग सकता है कि यह बात भाषा को दर्शन के लिए अनुपयुक्त बना देती है स्वतो-विरोध तो विचार का सहज शत्रु माना ही जाता है। पर हेगेल के लिए यह बात जर्मन भाषा में निहित एक गहरे और असाधारण सत्यबोध की द्योतक थी। हेगेल मानते थे कि विरोधी प्रत्यय एक-दूसरे का ऐसा निषेध नहीं करते कि सत्य दोनों में से एक के ही घेर में आ सकता है और दूसरे का प्रत्याख्यान करता है; ऐसा होता तो सत्-असत्, भाव-अभाव, सांत-अनंत जैसे प्रत्ययों का विचार-चेतना में साथ रहना की कैसे संभव होता? इनमें आपात विरोध के ऊपर खड़ा एक अगाध परस्पर-भाव है। हेगेल की दृष्टि में हम सत्य को विचार-चेतना से अलग नहीं कर सकते, और विचार-चेतना अगर विरोधी प्रत्ययों में घर करती है तो यहीं विचारक सत्य के स्वरूप का एक गहरा संकेत भी पा सकता है विरोधी प्रत्यय वस्तु को परिधि ही नहीं गति भी देते हैं, वे सत्य के स्पंद के, उसकी ऊर्ध्वगति के परिचायक हैं : सत् और असत् या भाव और अभाव (जिनमें विरोध आधारगत है), इन दोनों का सहभाव ही *भाव्य* को संभव करता है (भाव अगर भाव ही रहे, उसमें अपने निषेध का, अपने अभाव का बीज न हो, तो उसमें भाव्यता की गति का भी स्पंद न होगा) और सत्य का स्वरूप ही भाव्यमय है। हेगेल यहाँ अपनी बात को पुष्ट करने के लिए भौतिक-विज्ञान-दृष्ट पोलैरिटी के प्रत्यय का भी उदाहरण देते हैं। पोलैरिटी को हम ऐसा परस्पर-भाव कह सकते हैं जो परस्पर-प्रतीप-भाव या परस्पर-प्रतियोगित्व में स्थित होता हुआ प्रकृति के व्यापारों को वस्तुओं और उनकी गति को रूप देता है। जैसे पृथ्वी को लीजिए। पृथ्वी उत्तरी और दक्षिणी दो ध्रुवों के बीच स्थिति और गति रखती है, जिसका धारण विपरीत ऋणात्मक और धनात्मक चुम्बकीय शक्तियाँ करती हैं इन विपरीत शक्तियों के बिना पृथ्वी का होना, जो कि व्यापारमय है, वह होगा ही नहीं। प्रकाश जैसी ऊर्जा-शक्तियों का तो स्वरूप ही ऋणात्मक और धनात्मक के प्रतियोगी-सहवास से बनता है।

पर यहाँ बात हेगेल के दर्शन की नहीं है, बात का संदेश यह है कि हेगेल ने विचार के लिए अपनी भाषा, जर्मन, को विशेष महिमा दी। जब हेगेल लिख रहे थे तो

जर्मन में विचार की परम्परा को थोड़ा ही समय हुआ था, जैसा कि वे स्वयं कहते हैं। पर उन तक आते-आते परम्परा परिनिष्ठित हो चुकी थी, यूरोप के विचार को एक नया उन्मेष दे चुकी थी, जिसे हेगेल की प्रतिभा ने एक और नया, अपूर्व आयाम दिया। जर्मन भाषा की विचार-परम्परा यूरोप की पुरानी परम्परा को नकारती नहीं है, उसे एक नई दिशा, नई प्रगल्भता देती है, जिसमें भाषा की भूमिका भी नगण्य नहीं है (हेगेल तो मानते ही नहीं कि यूरोप के बाहर किसी भाषा में विचार हुआ है, या हो भी सकता है!) पर हिन्दी के विचारक को इससे ढाढ़स ही नहीं, उत्साह मिलना चाहिए। अगर जर्मन में विचार हो सकता है तो हिन्दी में क्यों नहीं? बल्कि मैं तो कहूँगा कि हिन्दी में विचारक के लिए एक स्वाच्छन्द की सम्भावना है जो उसे परम्परा का लाभ देती हुई भी परम्परा से अलग रख सकती है चाहे परम्परा संस्कृत की हो या अंग्रेजी की या किसी और भाषा की और नया सोचने के सहज द्वार दे सकती है।

यहाँ यशदेव शल्य (शल्य जी) का दृष्टान्त लीजिए। शल्य जी उन विरल विचारकों में हैं जिन्होंने गम्भीर, अनन्य और अपूर्व विचार किया है। इसका एक बड़ा हेतु यह है कि वे आरम्भ से ही हिन्दी ही में सोचते और लिखते रहे हैं। उन्होंने कभी सोचा ही नहीं कि हिन्दी में विचार कोई ‘समस्या’ जैसी चीज है। यह भी देखिए कि उन्होंने विचार का आरम्भ आधुनिक पश्चिमी अनुभव-वाद की स्थापनाओं को अपना कर किया, और मौलिक विचार कियाउनकी मौलिकता अन्य चिन्तकों ने स्वीकार भी की। पर उनका विचार आगे बढ़ता गया, गम्भीरतर, व्यापकतर होता गया और उनकी दृष्टि को एक अपनी तरह के सर्वग्राही, सृजन-प्रधान वेदान्त की ओर ले गया जो भारतीय भी है और रूढ़ि-मुक्त ‘आधुनिक’ भी। उन्हें विचार के लिए भाषा से जूझना पड़ा, भाषा गढ़नी पड़ीपर यह तो कविकर्म की तरह विचारकर्म का हिस्सा ही है ब्रज से हटकर खड़ी बोली हिन्दी में लिखते हुए, कवियों ने भाषा को भी अपने अनुरूप ढाला ही है। आज की खड़ी बोली हिन्दी में एक बात है जो उसे अपेक्षया सहज भाव से विचार के लिए अधिक उपयुक्त माध्यम बनाती है ब्रज से हटकर हिन्दी में तद्भव शब्दों का नहीं, तत्सम शब्दों का प्राधान्य है, जो उसे संस्कृत के अधिक समीप ले आता है। हमारी विचार-परम्परा संस्कृत की ही है, और संस्कृत की इस परम्परा में यह क्षमता है कि किसी भी विचार को प्रौढ़ अभिव्यक्ति दे सके चाहे वह विदेशी ही क्यों न हो। संस्कृत में कोई भी विचार पूर्वपक्ष को उजागर करता हुआ ही उससे अलग पंथ लेता है और पूर्वपक्षों का कोई अंत नहीं होता, न उनका कोई देश होता है। उन्नीसवीं सदी में पश्चिमी दर्शन पर **पंडित पत्रिका** में कई अच्छे निबंध छपे थे। अपने ही अनुभव की बात करूँ तो प्रोफेसर म. पु. रेगे और प्रोफेसर दया कृष्ण द्वारा आयोजित उस गोष्ठी की चर्चा कर सकता हूँ जिसमें संस्कृत में और अंग्रेजी में सोचने वाले विचारकों को एक मंच पर एकत्रित किया गया था और जो प्रश्न उठाए गए थे उनका संदर्भ बर्ट्रेड रसल जैसे विचारकों का भाषा और तथ्य सम्बन्धी आधुनिक

चिन्तन ही था। विचार संस्कृत और अंग्रेजी दोनों में किया गया, ऐसे दुभाषी विचारकों के सहारे जो संस्कृत और अंग्रेजी दोनों के विचार के मुहावरों में गति रखते थे। चर्चा में साफ उभर आया कि संस्कृत के विचारक अंग्रेजी वालों से कम नहीं, बढ़कर ही थे। यहाँ बदीनाथ जी शुक्ल का नाम विशेष लिया जा सकता है। (जो लोग कुतूहली हों, वे संवाद नाम की पुस्तक देख सकते हैं जो संस्कृत और अंग्रेजी दोनों भाषाओं में है और जहाँ गोष्ठी की सारी चर्चा लिपिबद्ध है। मैं भी गोष्ठी में शरीक था और संवाद के सम्पादन में भी मेरा हिस्सा रहा था। पुस्तक मोतीलाल बनारसी दास के यहाँ उपलब्ध है)। पर शल्य जी के हिन्दी चिन्तन में संस्कृत और अंग्रेजी दोनों से हटकर एक नएपन का उभार है, एक स्वतन्त्रता है, विचार के अभिनिवेश का सान्द्र उन्मीलन है जो हम अपने यहाँ के अंग्रेजी या संस्कृत दोनों में विचार करनेवालों में नहीं पाते। मुझे तो यही दिखता है कि यहाँ हिन्दी की भी स्वाच्छन्द्य देती भूमिका है। शल्य जी के विचार के विकास में इसे और भी घनीभूत होते देखा जा सकता है। उनका परवर्ती विचार पश्चिम से तो स्वतन्त्र है ही, पर साथ ही भारत की वेदान्त (और सांख्य) परम्परा में घर करता हुआ भी उनसे भी विलक्षण है।

विचार के बारे में एक बहुत प्रचलित अभिमत यह भी है कि विचार भाषा में होता हुआ भी भाषा-सापेक्ष नहीं होता, भाषा से विलग होता है, क्योंकि सामान्य प्रत्ययों की ऐसी भूमि पर होता है जो भाषा में बँधी होकर भी भाषा से ऊर्ध्व होती है। एक गहरे अर्थ में बात ठीक है। यह बात विचार को एक ऐसी निरपेक्ष सार्वजनीनता देती है जो सर्व-जन की परस्पर-सामान्य (वैश्वानर या विश्वजनीन) चेतना में निहित होती है। पर यह भी ठीक है कि विचार *अभिव्यक्त* भाषा में ही होता है वह भी किसी विशेष भाषा में। लगता है इन दोनों बातों को जोड़कर कुछ लोग (चाहे अनकहे रूप में ही सही) यह उपपन्न करना चाहते हैं कि विचार विश्वजनीन है तो फिर किसी विश्वजनीन (ग्लोबल) भाषा में ही होना चाहिए और वह भाषा साफ ही अंग्रेजी है।

पर यह सोचना सर्वथा भ्रान्त होगा कि अंग्रेजी में कोई स्वभाव-गत सार्वजनीन-भाव है अगर अंग्रेजी आज कुछ दूसरी भाषाओं से ज्यादा फैली हुई है तो इसके कारण ऐतिहासिक हैं, और इतिहास किसी एक जगह आकर खड़ा नहीं हो जाता। सच तो यह है कि ऐसी कोई भाषा नहीं जो सार्वजनीन नहीं होती। भाषा स्वभाव से ही बहुल होती है, जैसे मनुष्य के समाज, संस्कृतियाँ, व्यवस्थित समूह, सम्प्रदाय, ये स्वभाव से बहुवचन में पलते हैं। पर भाषा के बहुवचन के परे भी मनुष्य में एक वैश्वानर चेतना होती है जो सर्वानुस्यूत होती है। तभी अनुवाद संभव है यह संभव है कि हम एक से अधिक भाषाओं में प्रवेश रख सकें। अनुवाद, और हमारा एकाधिक भाषा में प्रवेश, ये इस तथ्य के भी संकेत हैं कि भाषा-चेतना और साथ ही विचार-चेतना किसी विशेष भाषा से बँधी नहीं होती : जब हम अनुवाद करते हैं तो जिन दो भाषाओं को

सामने रखते हैं, दोनों से ऊपर उठकर दोनों का अवलोकन अवगाहन करते हैं दोनों से विमुक्त, अनवच्छिन्न रहकर देखते-जाँचते हैं कि एक की बात दूसरी में सही उतरी या नहीं। यह भाषा-से ऊपर-उठी चेतना विचार में बड़ी आत्मचेतन होकर प्रकट होती है। जब हम अनुवाद नहीं कर रहे होते हैं तब भी प्रकट होती है, क्योंकि विचार के भीतर यह विचार भी स्वप्रकट भाव से चलता रहता है कि विचार भाषा में सही उतरा कि नहीं भाषा यहाँ विचार के लिए इस बात की भी कसौटी होती है कि विचार ही वह रूप ले पाया या नहीं जो वह लेना चाहता है। अपने आप में ही वह स्पष्ट हुआ या नहीं।

इससे विचार का भाषा से ऊर्ध्व होना तो प्रकट होता है, पर साथ ही यह भी खुलता है कि विचार को अपने भीतर से भाषा की आवश्यकता है। जिस भाषा में विचार होता है उसी में स्वप्रकट होना चाहता है। पर प्रकट वह किसी भी भाषा में हो सकता है। हाँ, कुछ भाषाओं में उसकी परम्परा अधिक परिनिष्ठित होती है, कुछ में कम। पर इसका सम्बन्ध किसी भाषा-विशेष में *विचार की करनी* से है, इस बात से नहीं कि वह भाषा विचार के लिए कम उपयुक्त है। बात विचार-चेतना के जागने की है, भाषा की तैयारी की नहीं भाषा को विचार-चेतना तैयार कर लेती है।

विचार-चेतना आत्मचेतना का ही एक अपेक्षया स्वप्रकट पक्ष है। किसी भी भाषा को अपनी अभिव्यक्ति का आधार बना सकता है। तभी बात यहाँ भाषा को जागने की उतनी नहीं जितनी चेतना के जागने की है। भाषा तो वाहन है, विचार-चेतना जागे तो किसी भी भाषा को अपना वाहन बना सकती है। उसके लिए हर भाषा विश्वजनीन होती है। अपनापन रखते-सँजोते हुए विश्वजनीन होती है।

यहाँ इस प्रसंग में अपने यहाँ के संगीत-चिन्तन से एक गहरी और पकड़ की बात आगे रखना चाहता हूँ। संगीत में देशी और मार्गी इन दो शब्दों का बड़ा चलन है। आप भी इनसे परिचित होंगे। राग-संगीत को हम शास्त्रीय भी कहते हैं, 'पक्का' गाना-बजाना भी कहते हैं। उसे 'शिष्ट' या 'विदग्ध' भी कहा जा सकता है। ये विशेषण मार्गी को देशी से अलग करने के लिए हैं। देशी सहज-सिद्ध, लीक से चला आया हुआ, रूढ़ि-गत संगीत होता है। दूसरे शब्दों में, *अविचारित* होता है। इसीलिए अ-शास्त्रीय, अ-शिष्ट, अ-विदग्ध होता है। शास्त्र का होना, शिष्टत्व, वैदग्ध्य, ये आत्मचेतना, की ऐसी भूमि के परिचायक हैं जो संगीत के भीतर विमर्श-विचार, आत्मालोचन, जागरूक आत्मावगाहन के साथ सृजन का इंगित देते हैं। आज हमें आदत है कि 'देशी' और 'मार्गी' संज्ञाओं को हम पश्चिम के 'फोक' और 'अरबन' (या 'लर्नेड'; आज की हिन्दी में 'लोक' और 'शास्त्रीय'), इनका पर्याय मानते हैं। 'फोक' और 'अरबन' का ठीक अनुवाद होगा 'जनपदीय' और 'शहरी', पर वास्तविक अन्तर यहाँ 'लर्नेड' ('शिक्षित') शब्द द्वारा ही संकेतित है : 'अरबन' का प्रयोग यहाँ यह मानते हुए किया जाता है कि शिक्षा (जो कि शास्त्रगत होती है) वह गाँव में नहीं

शहर में ही होती है। पश्चिम के मानस में लोक और शास्त्रीय में कोटि-भेद जैसा भेद हैतत्त्व का अंतर है। दोनों में ऐसा भूमि-भेद है कि एक भूमि का दूसरे से मानो कोई सम्बन्ध नहीं और सम्बन्ध है तो एक तरफा : अर्बन फोक को आत्मसात् कर सकता है, पर फोक का पहिया अपनी लीक-पड़ी रूढ़ि की गड़ार से नहीं निकल सकता। 'देशी' और 'मार्गी' के बीच ऐसी अनमिट आड़ नहीं है। 'देशी' और 'मार्गी' दोनों एक ही मेरु पर एक ही धरती पर स्थित हैं। इन प्रत्ययों का सबसे पहला और प्रामाणिक-लक्षण हमें आचार्य मतंग के प्रसिद्ध ग्रंथ **बृहदेशी** में मिला है। मतंग के लिये देशी और मार्गी (उनका शब्द है, 'मार्ग'), दोनों देशी की ही कोटियाँ हैं उनमें भेद है तो आत्मचेतन विमर्श का। मतंग कहते हैं कि देशी संगीत देश देश में (भाषा ही की तरह) भिन्न होता है राजा हो या गड़रिया सभी सहज स्वभाव से बिना किसी पृथक प्रयत्न के देशी में रमते हैं। पर देशी को एक व्याकरण दे दीजिए, उसमें सूझबूझ के साथ आलाप करने लगिये, वही संगीत मार्गी हो जाता है। कहना न होगा कि व्याकरण और आलाप दोनों आत्मचेतन विमर्श के सूचक हैं। साथ ही यह भी न कहना होगा कि *कोई भी देशी संगीत मार्गी में उन्नीत हो सकता है।* हमारे यहाँ यह होता ही आया है। इसमें एक खास बात यह भी होती है कि एक नया देशी जब मार्गी का मार्ग लेता है तो अपनी विशेषता, अपनी नई रोशनी भी साथ लाता है। कुमार गंधर्व के पक्के गाने में मालवी के देशी रूपों की ऐसी ही नई चमक देखी जा सकती है। कुछ लोग लोक के शास्त्रीयकरण को कुमार गंधर्व की विशेष देन कहने के आदी हैं। कुमार खुद अपने को इस बात में विशिष्ट नहीं मानते थे। उनका सोचना सही था। बीसियों राग देशी से मार्ग में आये हैं। राग ही नहीं शैलियाँ, जैसे ख्याल, ठुमरी, टप्पा, इनकी योनि देशी है ('ख्याल' शब्द फारसी 'ख्याल' नहीं है, बल्कि यह शब्द देशी गेय नाटक-विधा ख्याल से संबंध रखता है खड़ी बोली में रूप होगा 'खेल')। राग संगीत में देशी रूपों से मार्गी में नये उन्मेष जागते ही रहे हैं। मार्गी भी एक नहीं होता है, कई परंपराओं में पनप सकता है जैसे अपने यहाँ हिन्दुस्तानी और कर्नाटक के भिन्न राग-मार्ग हैं। ये अपनापन रखते हुए एक-दूसरे को प्रभावित भी कर सकते हैं, जैसा कि हम देखते ही हैं। क्योंकि हर मार्ग में अपनेपन के साथ ही विश्वजनीनता होती है, जो हमारी आत्मचेतना की विश्वजनीनता है। इस विश्वजनीनता का कोई एक नियत मार्ग नहीं होता, चाहे कुछ पथिक अपने ही पंथ को एक-पंथ कहने की दीवानगी भी करते रहे हों। और इस दीवानगी के साथ सत्ता आ मिले तो मामला ही बेटब हो जाता है।

जो बात राग-संगीत के साथ है वही भाषा के साथ भी है। हर भाषा स्वरूप से देशी ही होती है मनुष्य-मात्र में सहज है भाषा, और सहज ही बहुल ही है, 'बोली' की कोई परंपराओं में पलती है। ये परंपरायें सहज, मानो निष्प्रयत्न, चरिष्णु रहती हैं, पर इनका 'सहज' भाव अनात्मचेतन गतानुगतिकता या रूढ़ि का ही अधिक पोषण करता है। पर अनात्मचेतना यहाँ आत्मचेतना का निषेध नहीं होती, उसकी संभावना

हर परंपरा में निहित होती है, भाषा का होना ही इसका संकेत है। हर रूढ़ि अपने गर्भ में प्रतिभा का उन्मेष पालती है, पर आत्मचेतना स्तर-भेद भी पालती है, और अपने प्रति अधिकाधिक प्रबुद्ध हो सकती है। प्रबुद्ध हो तो कई दिशायें ले सकती है और उनमें आलाप की बढ़त कर सकती है विचार भी इन्हीं में एक दिशा है : एक महती दिशा है, क्योंकि विचार में आत्मचेतना अपने आप पर और मनुष्य की सभी वृत्तियों पर व्यापक होती है। भाषा पहले अपने ही प्रति प्रबुद्ध होती है 'सहज' से 'संस्कृत' होने की ओर बढ़ती है, उसमें शिक्षा की आवश्यकता जागती है, व्याकरण की रचना की ओर झुकती है, शिष्ट और अशिष्ट प्रयोग में भेद करने लगती है। ज्ञानजो भाषा-बोध के साथ हर भाषा-परंपरा में निहित होता है अब व्यवस्थित होने लगता है, शास्त्र का रूप लेता है। शास्त्र सहज आत्मचेतन से अधिक प्रबुद्ध होता है, अपने प्रति भी प्रबुद्ध होता है, प्रश्न उठाता है, अपने ऊपर विचार करता है। यों विचार अपने आप में स्वतन्त्र होने लगता है; विचार पर भी विचार करता है जगत् पर, मनुष्य पर, आत्म पर विचार करता है, और प्रत्ययों के लोक बुनता है, जिनको लेकर विचार का निरंतर आलाप चल सकता है, अगर हम चलाना चाहें। ये बातें हर सभ्यता में देखी जा सकती हैं। बल्कि संस्कृति का पनप कर सभ्यता का रूप लेने का मर्म ही यही है। पर भाषा की तरह ही सभ्यता में भी बहुलता होती है सभ्यता प्रबुद्ध आत्मचेतना के स्तर पर अपनी व्यवस्थाएँ, अपनी परम्पराएँ साधती है। इनमें रूढ़ियाँ भी पालती है, प्रतिभा भी। हर सभ्यता में विचार के लिए विचार की परम्परा परिपक्व हो, आवश्यक नहीं है। पर इसकी सम्भावना हर सभ्यता में होती है। दिखती भी है। सभ्यता की हर भाषा, विशेषकर हर व्याकरण-प्रबुद्ध भाषा, यह सम्भावना समोती है। हमारे यहाँ भी विचार संस्कृत में ही नहीं, पालि और प्राकृत में भी हुआ ही है, चाहे संस्कृत का माध्यम ऐतिहासिक कारणों से प्रधान माध्यम के रूप में उभरा हो। पर हम अंग्रेजी ही का मुँह तकने के आदी हों तो इंग्लैण्ड से थोड़ा बाहर निकलकर पूरे यूरोप पर भी नजर डालें विचार की एक नहीं अनेक भाषाएँ दिख जाएँगी, और सभी में विचार की अपनी-सी अलग परम्परा है, और सभी परम्पराएँ अपेक्षया नई हैं एक ही ग्रीक-गर्भी लैटिन-मार्ग से निकले विभिन्न मार्ग हैं। हिन्दुस्तानी और कर्नाटक संगीत जैसी ही बात है पहले राग-मार्ग सारे देश में एक व्यापक मार्ग था, जिससे ये दोनों निकले हैं। वैसे ही लैटिन मार्ग से यूरोप की देशी भाषाओं में विचार के भिन्न मार्ग निकले हैं।

पर संगीत में हम जितने आत्मस्थ और आत्मनियामक हैं विचार में आज वैसे नहीं रहे हैं। इसे एक विडम्बना भी कह सकते हैं। इतिहास की विडम्बना : हमारे अपने ही इतिहास के प्रति आत्म-जागरूक न होने की विडम्बना।

विगत की जिज्ञासा, यह मनुष्य-मात्र में होती है। और इस जिज्ञासा के पीछे अपने आपको जानने की प्रेरणा भी काम करती है। यों इतिहास-बोध मनुष्य मात्र में होता है। पर आधुनिक यूरोप ने आत्मबोध के रूप में इतिहास को एक विशेष महत्त्व

दिया और एक विशेष रूप से साधा। पर साथ ही यूरोप ने इतिहास को अपनी ही अनन्य, सर्वोपरि गरिमा को देखने-दिखाने का साधन भी बनाया, जो कि इतिहास में एक अभूतपूर्व घटना है। पश्चिम ने इतिहास-ज्ञान को मानव के ज्ञान का प्रामाणिक साधन कहा और यह कहते हुए इतिहास को यों आँका कि यूरोप की संस्कृति को मानव-जाति का अगुवा ही नहीं अधिकारी नेता ठहराया अपने प्रभुत्व को विजय-सिद्ध सत्ता के ही नहीं, ज्ञान के और अन्य को ज्ञान देने के समुचित अधिकार में प्रतिष्ठित किया। यों पश्चिम की सभ्यता-संस्कृति को सभ्यता और संस्कृति मात्र के आदर्श के रूप में खड़ा करते हुए, अपने आपको इस शक्ति का इतिहास-सिद्ध अधिकारी ठहराया कि वह शेष सभ्यताओं को आज के 'आधुनिक' परिप्रेक्ष्य में 'सभ्य' करे। इतिहास को प्रमाण बताते हुए यूरोप ने अपने नृशंस बल-प्रयोग को और अपनी विश्व-सत्ता को 'मानव प्रगति के प्रशस्त पथ की 'प्रस्तुति' बनाया। उसे सबके हित में समुचित उद्घोषित किया। आज शक्ति यूरोप के पास उतनी नहीं जितनी कि यूरोप की ही प्रसूति अमेरिका के पास है। पर अमेरिका का भी यही नारा है : 'हमारा प्रभुत्व महज सत्ता की बात नहीं, विश्व के कल्याण का पंथ है'।

वैसे सत्ता का अपने आपको ज्ञान का भी अधिकारी समझना-जताना कोई नई बात नहीं है। न यह नई बात है कि एक सभ्यता दूसरी को जीते या दूसरी पर उसका असर पड़े। पर आज जिस व्यापक और गहरे रूप में पश्चिम संस्कृति मात्र का प्रतिमान बन गया है वह चौंका देनेवाली, डरा देनेवाली बात है। हम अपने आपको लें तो यही हमारी भी विडम्बना हैहालाँकि हम 'स्वतंत्र' होने का गर्व करते हैं, पर हम मानो अपना विवेक, अपनी बुद्धि, अपनी दृष्टि पश्चिम के हवाले कर बैठने को आतुर हैं। पर 'स्व-तन्त्र' होने का प्रधान अर्थ है अपने तंत्र अपनी व्यवस्थामें रहना आत्मस्थ होकर अपने विवेक, अपने विचार-विमर्श, अपनी दृष्टि के आलोक में अपने आपको रूप देना। इसमें हम आज बुरी तरह पश्चिम-मुखापेक्षी हो गए हैं। राजनैतिक स्वतन्त्रता पाने से पहले इतने तो नहीं थे। इसका अर्थ यही है कि स्वतन्त्रता स्वसत्ता मात्र की बात नहीं है, और गहरी आत्मस्थता की बात है जो स्व-विवेचना के साथ स्व-विचार भी चाहती है।

पर मैं इतिहास की विडम्बना की बात करना चाहता हूँ। विडम्बना शब्द का मूल अर्थ है 'किसी की झूठी, भोंडी नकल उतारना'। पश्चिम ने हमारी संस्कृति-सभ्यता की जो छवि आँकी है, वह इसी अर्थ में विडम्बना है। इससे भी बड़ी विडम्बना यह हैहमारी विडम्बना है कि हम उसी मिथ्या छवि को अपना सच्चा स्वरूप मान बैठे हैं।

इसे इतिहास की विडम्बना मैं इसलिए कह रहा हूँ कि इसका बीज इस इतिहास-दृष्टि में है जो पश्चिम में पिछले दो-ढाई सौ सालों में उभरी है, और जो दृष्टि आज हमारे भी आत्मबोध को प्रेरित करती है। मनुष्य के भाव और भाव्यउसके

स्वरूप और आदर्श कोइतिहास के माध्यम से समझना, यह चेतना पश्चिम की मनीषा में विज्ञान के उभार के साथ उभरी है। विज्ञान जब ज्ञान की लगभग एकमात्र सत्यग्राही विधा के रूप में पश्चिम के मानस पर छाने लगा तो प्रश्न भी उठे। विज्ञान की महिमा को मानते हुए भी प्रश्न उठे। क्या मनुष्य का ज्ञान विज्ञान से हो सकता है? मनुष्य भौतिक पदार्थ नहीं है, जिसका परिमाण मापते हुए उसे गणित के ज्यामितिक या संख्या-सम्बन्धों में ढाला जा सके और फिर प्रयोग में उस ज्ञान का परीक्षण किया जा सके। विज्ञान चाहे ज्ञान का प्रशस्त एक-मार्ग हो, है तो आखिर मनुष्य की ही प्रसूति! और यह भी है कि विज्ञान एक देश-काल पात्र विशेष में ही पनपा है। और फिर स्पष्ट ही, विज्ञान-ज्ञेय भौतिक वस्तु से भिन्न, मनुष्य का एक अंतर भी होता हैसत्य को पकड़ती बुद्धि-चेतना होती है, जिसका विकास भी होता है, जो विज्ञान के उदय में देखा जा सकता है। मनुष्य भौतिक-जगत् से स्वतन्त्र होता है, तभी उसमें 'ज्ञान' की बात की जा सकती है। साथ ही मनुष्य कर्म में, भाव-भावना में भी स्वतन्त्र होता हैतभी संस्कृति-सभ्यता में पलता है, उनका निर्माण करता है।

मनुष्य के, परिमाण-मात्र में अनपचेय, आंतर स्वरूप को भाँपते हुए, पश्चिम की मनीषा में एक नई मनुष्य-दृष्टि ने रूप लिया। पर साथ ही यह दृष्टि विज्ञान को ही ज्ञान का प्रतिमान भी मानती रही। वस्तु-तन्त्रता के प्रति गहरा आग्रह है इस दृष्टि मेंजो वस्तु को देश-काल में रखती हुई, उसकी क्रियाउसके प्रत्यक्ष-दृष्ट व्यापारके आकलन से उसका 'सम्यक्' और ठोस, और इसलिए निर्भ्रांत, ज्ञान प्राप्त करती है; फिर उसकी व्याख्या करती है और प्रयोगशाला में उस व्यापार की अनुवृत्ति करते हुए व्याख्या का परीक्षण करती है। मनुष्य के व्यापारों का ऐसा परीक्षण संभव नहींज्ञान, भाव, कर्म, इनकी प्रयोगशाला में अनुवृत्ति का अर्थ ही क्या होगा? पर पश्चिम की मनीषा ने मनुष्य को भूत-जगत् सेप्रकृति से अलग रखते हुए भी उसके ज्ञान को उसके व्यवहार में, उसकी 'करनी' मेंउसके आँखों-दिखते बर्ताव मेंविज्ञान के ही आधार पर समझना चाहा। मनुष्य की करनी की शृंखला ही इतिहास-यात्रा का रूप लेती है(और विज्ञान में परिणत होती है)। मनुष्य के व्यापार-व्यवहार का एक विकास-यात्रा के रूप में आकलन करना हो तो उसके लम्बे विगत को परिप्रेक्ष्य में लाए बिना यह ठीक सम्भव नहीं; और विगत को 'वैज्ञानिक' ढंग से समझना हो तो मानव-व्यवहार उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर उसे आँकना होगा।

पर, प्रकट ही, हम मनुष्य की जानना चाहते हैं तो अपने आपको जानना चाहते हैं। यों इतिहास आत्मज्ञान का माध्यम भी हो जाता है। हम पाते हैं कि हमारा आज किसी देश-काल विशेष का किसी मनुष्य-समूह की व्यापार-शृंखला या इतिहास-यात्रा विशेष का आज है। यह ठीक है कि सबका इतिहास एक नहीं है, पर हर-एक की पहचान उसके इतिहास में ही है। पश्चिम की इतिहास-साधना उसकी अपनी पहचान भी बनाना चाहती थी। अपनी पहचान के लिए अपना स्वरूप और दूसरों से अपना

भेद यह दो बातें साधी जाती हैं पश्चिम ने अपना इतिहास साधते हुए औरों के इतिहास-चित्र भी आँके।

ये ही वे दिन थे जब पश्चिम एक ओर जहाँ अपनी विज्ञान-दृष्टि से चौका हुआ था, वहीं विज्ञान-प्रदत्त शक्ति के सहारे दूसरों पर विजय भी हासिल कर रहा था। अचम्भा नहीं कि पश्चिम ने अपनी पहचान अपने विज्ञान के उदय में देखीविशेषकर अपनी उस बुद्धि में (उस युक्ति-तर्क-मयी बुद्धि में), जो विज्ञान का बीज बनी। पश्चिम की बुद्धि-परम्परा का (विचार-परम्परा का) स्रोत प्राचीन ग्रीस था। पर पश्चिम ने ईसाइयत का वरण कर ग्रीस को और उसकी विचार-परम्परा को नकारा था। ईसाइयत में ज्ञान का आधार बुद्धि और विमर्श नहीं, श्रद्धा-आस्था-विश्वास हैं। ईसाइयत में बुद्धि के स्वातन्त्र्य का विरोध है, बुद्धि ज्यादा-से-ज्यादा श्रद्धा के सत्य की पुष्टि में सहायक हो सकती है, सत्य की द्रष्टा नहीं।

सत्य-दर्शन हमारी कौन-सी वृत्ति करती है, यह एक सनातन प्रश्न है, बुद्धि के लिए भी प्रश्न ही है। पर पश्चिम के 'आधुनिक' विज्ञान-गर्वित, विज्ञान-प्रेरित इतिहास-द्रष्टाओं ने बुद्धि का विशेषकर विज्ञान में प्रयुक्त होती बुद्धि का पक्ष लेते हुए अपने इतिहास को यों आँका कि ईसाइयत की श्रद्धा पश्चिम की बुद्धि पर पर्दे की तरह अंधकार लेकर आई थी। पर रिनेसां के साथ जब 14वीं-15वीं सदी में पारलौकिक दृष्टि के एक तरह के हास के साथ मानव-बोध का उदय हुआ मनुष्य को मनुष्यरूपेण ही इष्ट और अर्थ-गर्भ माना जाने लगा तो बुद्धि के प्रति भी आस्था बढ़ी, बुद्धि में ज्ञान-दृष्टि की सम्भावना का फिर से बोध उभरने लगा। यूरोप के बाद के इतिहासकारों ने इसके पीछे अन-ईसाई ग्रीस-रोम के प्रति बोध के नव-जागरण का हाथ देखा है। रिनेसां को ग्रीक बुद्धि-निर्भरता की पुनः-प्राप्ति के रूप में देखा है तभी ग्रीस-रोम के बाद के ईसाई-प्रभुत्व की सदियों को अंधकार-युग का नाम दिया गया।

पर साथ ही पश्चिम की नई इतिहास-बुद्धि ने अपने विजय-गर्व में और अपनी विज्ञान की उपलब्धि के चमत्कार में अन्य सभी सभ्यता-संस्कृतियों को अंधकार-मग्न ही देखा अपने यहाँ जागरण देखा। अन्य देशों में सदियों-सदियों की सुषुप्ति। और इन अप्रबुद्ध सभ्यताओं में पश्चिम ने बुद्धि के उदय होने की सम्भावना भी नहीं देखी इनके इतिहास में इसका कोई ग्रीस-तुल्य बीज नहीं पाया। बात अजीब थी, क्योंकि ग्रीस ने मनुष्य का व्यावर्तक लक्षण ही यह किया था कि मनुष्य में बुद्धि (या रीजन) होती है, पर पश्चिम के आधुनिक इतिहास-द्रष्टाओं ने इस लक्षण का समर्थन करते हुए भी अपनी अन्यों के प्रति दृष्टि में इसकी परम उपेक्षा की। पश्चिम के आधुनिक इतिहासकारों ने अपने अधुना-लब्ध विज्ञान में ग्रीस-बुद्धि-बीज का सच्चा विकास-पल्लवन भी देखा। उनका यह विश्वास था कि स्वतन्त्र-बुद्धि की विचार-परम्परा ग्रीस की ही अनन्य सम्पत्ति थी, और आधुनिक पश्चिम उसका इकलौता उत्तराधिकारी ही नहीं, उसे आगे ले जानेवाला है। अपने इस उत्तराधिकार के बूते पर उसने और

उसी ने विज्ञान को जन्म दिया, और अन्यों पर सत्ता का समुचित, इतिहास-सिद्ध अधिकारी बना, क्योंकि अपने उत्तराधिकार के कारण विज्ञान को जन्म देने का भी वही अधिकारी था। विज्ञान और अपनी दिग्विजय की आत्ममन्यता के साथ पश्चिम की इतिहास-दृष्टि में यह भी गहरा विकास-बोध जागा कि मानव-की इतिहास-यात्रा वास्तव में या अपने सार-स्वरूप में पश्चिम की ही इतिहास-यात्रा है।

भारत को पश्चिम ने अंधविश्वास की रूढ़ियों में सुषुप्त देखा। अपनी भारत-विजय को यहाँ के सभ्यता-विकास का एक आवश्यक चरण मानारूढ़ियों के अंधकार को दूर करते 'आधुनिक' प्रकाश की इतिहास-गति। पश्चिम में इस विचित्र विश्वास ने घर किया कि अपनी अनन्य बुद्धि-परम्परा के कारण अन्यत्र-असम्भव और इतिहास के सच्चे-मार्ग पर चलती विलक्षण गति के कारण विज्ञान-लब्ध आधुनिकता पश्चिम की ही बपौती हो सकती थी। इसलिए आधुनिकता का अन्यत्र प्रसार पश्चिम का मानव-मात्र के प्रति उपकार था, चाहे यह साम्राज्य-प्रसार के रास्ते हुआ हो, और इसमें नृशंस लोलुपता का भी हाथ रहा हो। ये निर्मम-लगती बातें इतिहास की गति का अंग हैं, और मानव-विकास के लिए अनिवार्य हैं। सार्थक बात यह है कि पश्चिम की आधुनिकता मानव-यात्रा का एक नया, मानव-मात्र को एक नई भूमि पर लाता पड़ाव है, जो पश्चिम की ही डगर पर पड़ता था पर वह मानव-मात्र के लिए अनिवार्य ही नहीं वरदान है इसलिए पश्चिम का साम्राज्य-प्रसार, उसका इतिहास सिद्ध कर्तव्य था, और है। यह साम्राज्यवाद आधुनिकता की थाती के साथ मानव को अपने सच्चे साध्य-स्वरूप में प्रतिष्ठित करने का साधन है।

स्पष्ट ही यह दृष्टि इतिहास के नाम पर आत्म-गौरवमयी पौराणिक गाथा है, बुद्धि-विचार में बसी आत्म-आलोचनामयी दृष्टि नहीं। विगत के साक्ष्यों के आधार पर किया गया इतिहास का आकलन कई रूप ले सकता है किसी भी इतिहास-चित्र के लिए साक्ष्य संकलन-संगठन और व्याख्या चाहते हैं, और इस प्रक्रिया में दृष्टि-भेद उस प्रक्रिया का ही अंग है। आज हमारे यहाँ जो यह झगड़ा खड़ा है कि स्कूल के विद्यार्थी को क्या इतिहास पढ़ाया जाए, कहना न होगा कि यह झगड़ा दृष्टि का ही द्वन्द्व है। दृष्टि ही विगत के किसी तथ्य को अपने इतिहास-चित्र के अवयव के रूप में इतिहास का साक्ष्य बनाती है। दृष्टि-भेद के साथ साक्ष्य दूसरा चुना जा सकता है या उसी साक्ष्य का अर्थ बदल सकता है।

फिर यह भी है कि हम क्या हैं? हमें क्या होना चाहिए? ऐसे प्रश्नों का उत्तर हम इतिहास में ढूँढ़ें, यह जरूरी नहीं। ये विचार के प्रश्न हैं, और विचार किसी की बपौती नहीं। इतिहास को मानव की पहचान कहना और विज्ञान को विचार का सत्य कहना, यह एक हठाग्रह ही है, मानव की अनिवार्य पहचान नहीं। और पश्चिम में इस आग्रह के पीछे साम्राज्य-विस्तार का दुराग्रह भी स्पष्ट है। मानव-बोध के लिए इतिहास आवश्यक नहीं यह हमारे अपने ही विचार के इतिहास से स्पष्ट है। भारत में इतिहास

को आत्मबोध का मार्ग नहीं माना गया आज जिसे साक्ष्य-गर्भ इतिहास कहा जाता है, वैसे इतिहास की तो यहाँ उपेक्षा ही हुई है। यह भी एक कारण है कि आधुनिक पश्चिम हमारी परम्पराओं और सभ्यता को अनाधुनिक और रूढ़िवादी कहता रहा है क्योंकि वह ऐसे ही इतिहास के आधार पर मनुष्य की और विशेषकर अपनी-पहचान बनाता है। जहाँ ऐसा इतिहास ही न हो, जहाँ विगत के साक्ष्यों के लेखन-संरक्षण की ही उपेक्षा की गई हो, वहाँ पश्चिम के हिसाब से मनुष्य अपने प्रति सचेत ही नहीं हुआ है वह अनैतिहासिक है, वह पूरा मनुष्य भी नहीं है, जैसे आदिम संस्कृतियों के जीव। पर बात को यों भी देखिए। पश्चिम में भी साक्ष्य-मूल इतिहास को मानव की पहचान मानने की आस्था नई है पश्चिम उसके पहले भी सभ्य ही था। और फिर, कहना न होगा, मानव के स्वरूप की जिज्ञासा तो सभ्यता मात्र की पहचान है, चाहे इस ज्ञान का प्रमाण क्या हो, दिशा क्या हो इस पर मतभेद पलते रहे हैं। अगर किसी सभ्यता में आज जैसे साक्ष्य-मूल और वृथा ही 'वैज्ञानिक' कहे जानेवाले इतिहास की ओर ध्यान नहीं दिया गया, तो इस बात का यह भी संकेत है कि वैसे इतिहास का कोई मनुष्य-मात्र के लिए प्रामाणिक, आत्म-सिद्ध महत्त्व नहीं है।

फिर भारत में विगत का महत्त्व तो रहा ही है। पुराण रहे हैं जहाँ विगत का पसारा काल की अनंतता को भी नापता लगता है। पुराण भी काल के और यों परिवर्तन के परिप्रेक्ष्य में मनुष्य को आँकने-समझने की दृष्टि रखते हैं, और यह दृष्टि पूरी सृष्टि को समेटती चलती है। एक बात में यह दृष्टि आधुनिक इतिहास-दर्शन से घनिष्ठ साम्य रखती है इतिहास चाहे यहाँ चक्र की गति से चलता हो, सीधे रेखा की गति से नहीं, पर परिवर्तन का मर्म यहाँ मनुष्य की चेतना है : पुराणों में युग-भेद के साथ धर्म का (मनुष्य की औचित्य-चेतना का) उदय और हास होता है।

पश्चिम की प्रगति-मूलक इतिहास-दृष्टि में भी परिवर्तन की नाभि चेतना ही है बुद्धि-चेतना; आज जिसका सम्यक् उदय हुआ है : विज्ञान में ही नहीं, मनुष्य की समूची संस्था-संरचना में समाज के ढाँचे में, राज्य-व्यवस्था, अर्थ-व्यवस्था के ढाँचों में, यहाँ तक कि साहित्य में, कलाओं में, विचार में, आदर्शों में, दर्शन में। तभी 'आधुनिकता' एक नया 'युग' है, चेतना का एक नया पर्व है, नई भूमि है; एक साधारण *नयापन* मात्र नहीं है जो कि सदा, सब जगह होता ही रहता है। यह मनुष्य की काल-यात्रा का वैसे ही एक नया पड़ाव है जैसे कलियुग, इस भेद के साथ कि यह विकास की नई युग-भूमि है, हास की नहीं। पर इस भेद को अलग रख दीजिए तो अपने मर्म में यह दृष्टि वैसे ही पौराणिक दृष्टि है जैसी कि कलि-युग की धारणा में उभरती है (शायद इसीलिए हम पर कलि के युग-बोध का स्थान आधुनिकता के युगबोध ने इतनी जल्दी ले लिया है)। इसके साथ 'साक्ष्य-प्रमाण' की बात वंचना ही है। कह ही आया हूँ कि इतिहास के साक्ष्य, उनकी योजना, उनकी व्याख्या, ये कई परस्पर-भिन्न सम्भावनाओं में पलती हैं। सच्चा इतिहासकार जो इतिहास के साक्ष्य-भेद

का विचार करता चलता है, यह इस अनेकांत से अवगत भी रहता है। हाँ, साधारण इतिहास-लेखन इस बात से अवगत नहीं रहताया रहता हुआ भी नहीं रहता विशेष कर जब वह इतिहास का किसी और स्वार्थ से उपयोग करना चाहता है। पश्चिम ने अपनी सत्ता, अपनी महिमा बढ़ाने के लिए यही किया है।

उसकी अहंमन्य दृष्टि इस बात से भी प्रकट है कि वह आधुनिक युग को मनुष्य-मात्र की चेतना में आविर्भूत अभूतपूर्व युग कहता हुआ भी आधुनिकता को अपनी ही प्रसूति, अपनी ही सच्ची नियति, अपनी ही सम्पत्ति बताता है। इसके आधार पर अपनी सत्ता और प्रताप के, और इनसे जन्य प्रभाव के औचित्य का डंका बजाता है। पर यह बात उसके इतिहास-बोध को सच्ची पौराणिकता से भी अलग करती है। कलि काल के मानवमात्र-व्यापी युगबोध से अलग करती है। सच्ची पौराणिकता में एक गूढ़-गंभीर विश्वजनीनता भी होती है, जो 'आधुनिकता' में नहीं है। अगर आज इतिहास की गति से सचमुच आधुनिक नाम का अभूतपूर्व युग आया है तो उसे सब जगह आना चाहिए, चाहे वह अलग-अलग भिन्न रूप ले। ग्रीस में अरस्तू ने बुद्धि और यौक्तिकता को मनुष्य का व्यावर्तक धर्म कहा था। आधुनिक पश्चिम भी यह मानता है अरस्तू को अपना गुरु मानता ही है। पर अगर मनुष्य का यह लक्षण है, तो भिन्न समाजों-संस्कृतियों में जो आदर्शों के, मनीषा के, भेद दिखते हैं, उन्हें बुद्धि के ही रूप-भेद मानना-कहना चाहिए। पर पश्चिम अपने मनुष्य-लक्षण का ही विषम विरोध करता हुआ अपने आपको ही वास्तव बुद्धि-शील बताता है और विचित्र विडम्बना यह भी है कि इस बात में भी अरस्तू की ही अनुवृत्ति करता है; अरस्तू भी बुद्धि को मनुष्य का लक्षण कहते हुए, ग्रीक-लोगों को ही बुद्धि का पात्र और अधिकारी मानते थे, और इस बिना पर ग्रीस द्वारा दूसरों को दास बना लेना युक्त और बुद्धि-संगत समझते थे।

सच पूछिए तो 'आधुनिकता' का अर्थ सर्जन होता है, किसी परम्परा में रूढ़ि से हटकर नया अर्थोन्मेष। हमारे यहाँ परम्परा के भीतर प्रतिभा और रूढ़ि में यही भेद किया गया है कि रूढ़ि गतानुगतिक रचते आए की अनुवृत्ति मात्र होती है जबकि प्रतिभा नव-नव उन्मेष की अपेक्षा रखती है। प्रतिभा न हो तो परम्परा सच्ची परम्परा नहीं रहकर अंध-परम्परा हो जाती है। देखने की बात यह भी है कि परम्परा एक नहीं, स्वभाव से ही अनेक होती है हर क्षेत्र में अनेक होती है। विचार को ही लीजिए। मनुष्य में विचार जागे तो विचार की एक धारा बनती है, पर एक ही धारा नहीं बनती; विचार स्वभाव-बहुल होता है, कई धाराएँ बनाता है, और विचार आगे चले तो उसकी भिन्न धाराएँ भिन्न परम्पराओं का रूप लेती हैं, जिनमें परस्पर संवाद-विवाद होता है, जो नई धाराओं का भी पोषण करता है। परम्परा का हास-विकास भी होता है; पर हर परम्परा प्रतिभा का सर्जन चाहती है 'आधुनिक' बने रहना उसका जीवन है। नहीं तो निष्प्राण हो जाती है; रूढ़िमात्र। पर परम्परा रूढ़ि भी हो जाए तो प्रतिभा उसे फिर

से जगा दे सकती है। पश्चिम अपनी बुद्धि-परम्परा को इसी रूप में देखता हैग्रीस में उसका उदय हुआ, विकास हुआ, फिर मध्ययुग में हास; आधुनिकता और कुछ नहीं, उसमें प्रतिभा का पुनः जागरण हैनवोन्मेष है। पर हम अगर पश्चिम की उसी परम्परा के अनुजीवी हो जाएँ तो हमारे लिए यह अंध-अनुवृत्ति ही होगीरूढ़ि होगी, परम्परा नहीं। अगर परम्परा बनेगी तो हमारी अपनी आधुनिकता लागेगी, जिसकी अपनी धारा होगी जो हमारी होगी, पश्चिम की नहीं। उसका अपना उन्मेष होगा जो पश्चिम से अलग होगा।

हमारे मन में बैठ गया है कि यह बात ठीक भी हो तो इसके लिए पहले पश्चिम को गुरु बनाना, उसके सिखाए पाठ सीखना, जरूरी है। हमारी विडम्बना है कि यह बात भी हमने पश्चिम से सीखी है, और बिना परखे गाँठ बाँध ली है। पश्चिम के अधुनातन विद्वान बार-बार कहते रहे हैं कि आज कोई भी विचार की परम्परा पश्चिम की स्नातक हुए बिना विकास के मार्ग पर नहीं बढ़ सकती, क्योंकि अन्यत्र विचार की विशुद्ध, बुद्धि-निष्ठ परम्परा है ही नहीं। इससे बड़ा धोखा नहीं हो सकता। इस बात में सच यही है कि हम इसे सच मान बैठे हैंअपनी ओर देखे बिना अपनी इस झूठी प्रतिभा को अपना स्वरूप मान बैठे हैं! हमारे यहाँ पश्चिम से कहीं अधिक जागरूक और बहु-सूत्रमयी, विस्तृत विचार-परम्परा हैजो अपने इतिहास में पश्चिम की तरह विच्छिन्न भी नहीं, एक अटूट नैरंतर्य में बसी है। उस परम्परा के द्वार हमारे लिए बंद नहीं, इसलिए हम किसी और के मुखापेक्षी हों, इसके पहले अपनी तो खबर लेनी चाहिए। नकल में यों भी असल नहीं मिलता। असल के लिए किसी लीक पर चलना जरूरी नहीं। यह भी सोचिए कि पश्चिम एक ओर तो परम्परा मात्र को गाली देता है, (अपने सिवा सबको 'पारंपरिक' कहकर नीचा दिखाता है) पर सृजन अपनी परम्परा में रहकर ही साधता है, उसी परम्परा में सार्थक सृजन सम्भव मानता है, नकारता भी है तो उसमें रहकर ही उसे नकारता हैहमारी तरह दूसरे की परम्परा में नहीं जा बैठता। वह 'स्वधर्मं निधनं श्रेयः' के मंत्र में आस्था रखता हैबस औरों की ही इस सहज आस्था को तोड़ना चाहता है।

पर हमारे इतिहास ने हमें आज एक स्वच्छन्दता भी दी है। हमें अपनी परम्परा से उचाट किया है तो हम उस पर प्रश्न उठा सकते हैं; पर प्रश्न जागे तो अपनी परम्परा पर ही नहीं पश्चिम की परम्परा पर भी उठना चाहिए, 'आधुनिक' परम्परा तो यों भी 'प्रश्नमयी' कही जाती है। पर परम्परा पर प्रश्न सार्थक तभी हो सकता है जब परम्परा को जान-परख कर उठाया जाए। यों ही प्रश्न के नाम पर किसी बात को उठा देना प्रश्न नहीं होता, खोखलापन होता है। इतिहास के नाम पर भी यह खोखलापन कम नहीं हुआ है। मुझे याद है, हमें कहा जाता था कि 19वीं सदी में पश्चिम का विचार आया तो हमारे यहाँ का विचार निरस्त हो गया और पश्चिम का उच्चतर विचार उसकी जगह आसीन होने लगा। इस बात को दूसरे और प्रगल्भ-विदग्ध शब्दों

में भी कहा जाता है, जहाँ बात वैसी सीधी मुँहफट सी नहीं लगती। पर बात का सार यही है कि हमारे इतिहास में पश्चिम का प्रभुत्व आया तो हमारे विचार का स्थान भी पश्चिम के विचार ने ले लिया। पर जरा सोचिए। विचार में परिवर्तन तो विचार के भीतर से होता है, नहीं तो उसे बुद्धि-निष्ठ या युक्तियुक्त नहीं कहा जा सकता। मैंने जब सुना कि पश्चिम ने हमारे विचार को निरस्त कर दिया है तो मैंने जानना चाहा कि वह विवाद कहाँ है जिसके माध्यम से पश्चिम के विचार ने हमारे विचार को निरस्त कियाउसका खंडन कियाउसे अयुक्त ठहराया। पर पश्चिम और भारतीय विचारकों के बीच कोई विवाद तो क्या बातचीत तक कभी नहीं हुई। पश्चिम ने तो हमारे विचार को ठीक से कभी जानना ही नहीं चाहा, उसे विचार की कोटि में ही नहीं रखा। 'विवाद' एकतरफा था, और पूरी तरह से निर्विचार था। पश्चिम के विचारकों ने फतवा दिया कि भारत में विचार तो क्या, रीजन(विचार-बुद्धि) का ही अभाव रहा है। हमारी शिक्षा भी पश्चिम के साँचे में ढल गई थीहमारी बुद्धि में यही संस्कार पड़ गया (रूढ़ि बन गई) कि हमारा अपना विचार-विचार के निकष पर पूरा नहीं उतरता। पर मैं प्रश्न की बात कर रहा था। प्रश्न सबसे पहले संस्कार पर ही उठता है। हममें जो संस्कार पश्चिम ने डाला है, उस पर प्रश्न उठना चाहिए। अपना ही प्रत्याख्यान करने से पहले हम अपने आपको ठीक से जानें, युक्त तो यही है; फिर भारत के विचार को पूर्वपक्ष बनाकर उसका प्रत्याख्यान करें तो विचार की बात होगी, प्रतिभा की बात होगी। नहीं तो अंध संस्कार ही होगामहज रूढ़ि। ध्यान यह भी रहे कि बुद्धि का यह दायित्व भी होता है कि पूर्वपक्ष को उदारभाव से सशक्त करते हुए उसका प्रत्याख्यान करेंहमारे यहाँ यह परम्परा तो रही ही है।

किसी विचार को जानना, उस विचार में उतरना, एक गहरे स्तर पर उसे अपना भी होता है। हम प्रत्याख्यान करते हुए भी उस विचार की भाषाउसकी विधा में, उसके चलन परअपना विचार करते हैं। हिन्दी में विचार करते हुए अपनी परम्परा की भाषा, उसकी विधा, एक सहज रूप से ही भाषा के साथ अनुविद्ध रहती है, पर उसे आत्मचेतन होकर परख और आत्मालोचन के साथ अपनाने के लिए विचार की सक्षम परम्परा का ज्ञान आवश्यक है। पश्चिम की परम्परा को भी हम सचमुच समझना चाहें तो हिन्दी के माध्यम से समझना एक खरी पकड़ देता है, नहीं तो एक बात को एक विशेष शब्दावली में कह देने भर का संस्कार 'समझ' की जगह लेता रह सकता है। हम अकसर समझते हैं कि अंग्रेजी में कहने से ही बात सही समझ में आती हैअगर विचार की बात हो। पर अकसर यह एक परिचित शब्द-जाल (या शब्द-जंजाल) भर का धोखा होता है। उसी बात को हिन्दी में समझ कर देखिए, बात शब्द-जाल से खुलकर अवगाहन के स्तर पर आती है, आलोकित और प्रशस्त होती है। मेरा तो यही अनुभव रहा है। एक स्वातन्त्र्य भी मिलता है। बात खुलती है, उस पर प्रश्न भी जागते हैं। यह बोध तीखा उभर कर जागता है कि विचार को दूसरी किसी ओर ले जाया जा

सकता है। विचार के मार्ग भिन्न होते हैं और यह भी कि इस बात का भाषा के साथ सम्बन्ध है। भाषा के प्रत्यय एक परम्परा में बसते हैं और विचार की क्षितिज-सी सम्भावना को एक विशेष अभिव्यक्ति देते हैं। काव्य का भाषा-विशेष में रूप लेना हमें अनायास स्वीकृत है, पर विचार का नहीं। फिर भी विचार के प्रत्यय-व्यूह भी उसी तरह किसी भाषा के अपने होते हैं, जैसे काव्याभिव्यक्ति के भाषागत मार्ग, उसके मुहावरे, बिम्ब, उपमान। यह सच है कि इनमें एक खुलापन भी होता है, एक सार्वजनीनता होती है, जो भाषा से बँधी नहीं होती है, पर होती भाषा विशेष के भीतर ही है। अपनी भाषा में खुलने का बोध हमें स्वाच्छन्द्य देता है, बाँधता नहीं है काव्य में ही नहीं विचार में भी। यह अपनापन विचार के नए उन्मेष का क्षितिज खोलता है जो किसी भी गतानुगतकता से मुक्ति की ओर उन्मुख कर सकता है।

अंत में एक बात और कहना चाहूँगा। माना, अंग्रेजी के प्रभुत्व के साथ उसका प्रचार भी हिन्दी भाषियों पर छा रहा है अंग्रेजी में लिखने-बोलने वालों की संख्या खासी बढ़ी है। पर भूलना नहीं चाहिए कि हिन्दी में (और देश की दूसरी देशी भाषाओं में) शिक्षित-दीक्षित लोगों की संख्या इससे कहीं अधिक बढ़ी है। भाषा में भी एक रीढ़ आई है, परिपाक आया है हिन्दी के अखबार इसके स्पष्ट प्रमाण हैं। ऐसे पढ़े-लिखों की संख्या अब बहुत बढ़ी-चढ़ी है, जो हिन्दी में ही विज्ञ हैं। हाँ, ये लोग भी अंग्रेजी का ही लोहा मानते हैं पर इस दशा को बदलना भी हिन्दी वालों का ही स्वधर्म है विशेषकर उनका जो हिन्दी में लिखते हैं, पढ़ते हैं।

With Best Compliments
from
VASUNDHARA IMPEX (P) LTD.

Administrative Office
LG-69, World Trade Centre,
Babar Lane, New Delhi-110001

Regd. Office
1/3575, Netaji Subhah Marg, Darya Ganj,
New Delhi-110002 ❖ Phone Off. 3277883, 3711848

बौद्ध मूल्य और मानव के करणीय कार्य

डॉ. लोकेशचन्द्र*

अनुवादक : बाबूराम वर्मा

मूल्यों का जन्म मन में होता है और वे व्यावहारिकता को प्रभावित करनेवाले कारकों की तरह विद्यमान रहते हैं। मूल्य नैतिक, सौन्दर्यात्मक, आध्यात्मिक, जैविक किसी भी तरह के हो सकते हैं और उसको अस्तित्व में लाते हैं और अस्तित्व में रहने के योग्य बनाया करते हैं। वे उन नियमों का निर्माण करते हैं जिन्हें घटित होना ही चाहिए। ये नियम समय और स्थान के प्रति उत्तरदायी होते हैं तथा घटनाओं से पूर्व की परामूल्यता कार्यों के परिणति बिन्दु होते हैं। अन्य विशेषताओं से ऊपर उनकी अधिसत्ता उन्हें मानव मन और मानव कार्यों में प्रभावकारी बनाती है। वास्तविकता की संरचना और जीवन के संवर्धन में वे निहित रहते हैं और जीवन के रचनात्मक मूल तत्त्व में उनका औचित्य रहता है। वे मन में उठनेवाली विचार तरंगें होती हैं जो प्रत्येक मानव में रहनेवाली अन्तर्निहित साधुता को जगाती हैं। मूल्य पढ़ाए-सिखाए नहीं जा सकते, वे हमारे *अलय विज्ञान* और व्यष्टिक *मनोविज्ञान* से स्वतः उद्भूत होते हैं और पुनः संचित मन के अन्दर जाकर जमा हो जाते हैं तथा एकीभूत प्रवाह बनकर फिर से प्रकट होते हैं। जीवन की सुन्दरता की *अन्तर्ज्योति* की बीजरूप स्थिति होते हैं।

यह समझने के लिए कि बौद्ध मूल्यों की नींव मानवीय मनोभूमि, हमारी चेतना की एकात्मकता और जीवन के प्रति उनके समर्पण में स्थिर बनी हुई रहती है हमें उनके समतुल्य मूल्यों के एक विरोधी बिम्ब की आवश्यकता पड़ेगी जिसमें मूल्य एककेन्द्रित ईश्वर अथवा आत्मा और परमात्मा के आद्य रूप में ही स्थित किए हुए हों। इस प्रकार हम मानव जीवन के सारभूत तत्त्वों की दो पृथक-पृथक और परस्पर विरोधी धारणाओं को समझ सकेंगे; एक देवकेन्द्रित संधारणा जिसमें एक ईश्वर सर्वोपरि हो और दूसरी मानवकेन्द्रित संधारणा जिसमें मानव जीवन ही परागामिता प्राप्त करता हो। एक केन्द्रवाली दृष्टि को और स्पष्ट करने के लिए हम ब्रूस फाइलर की 'अब्राहम : तीन धर्म सम्प्रदायों के मूल हृदय की यात्रा' से यह उद्धरण देना चाहेंगे "अब्राहम (= इब्राहीम) अधिकांश मामलों में 1.2 करोड़ यहूदियों, 200 करोड़ ईसाइयों

* पूर्व सांसद, निदेशक सरस्वती विहार, जे-22, होज खास एन्क्लेव, नई दिल्ली-110016

और 100 करोड़ मुसलमानों का, आशयतः जैविकीय पिता ही है" (पृ. 9)। वह एक ऐसे "राष्ट्र का निर्माण करता है जिसकी सामूहिक चेतना की परिभाषा ईश्वर के प्रति उसका सम्पूर्ण समर्पण ही है" (पृ. 46)। "क्या मैं ईश्वर के लिए कुरबानी करूँ?" इसका उत्तर अब्राहम (= इब्राहीम) के अधिकांश वंशजों के लिए पूरे इतिहास क्रम में "हाँ, निस्सन्देह हाँ" ही है (पृ. 10)। उसने अपने इसी व्यवहार को अपने दोनों बेटों को आर्तकित करने की इच्छा से पिता से अलग जाने की भावना में सम्प्रदाय और हिंसा में रहनेवाला गहन सम्बन्ध पोषित किया। और, तदुपरान्त, ऐसे आचरण को पावनता के स्तर तक ऊपर उठाने के लिए उसने अपने वंशजों में मारधाड़ और पीड़ा देने को धर्म फैलाने का उपकरण समझने और देवकेन्द्रित संसार में अपना दर्शन फैलाने के लिए बर्बरता उपयोग में लाने की वैसी ही इच्छा को बढ़ावा दिया" (पृ. 108)।

एक तरफ जहाँ एककेन्द्रवाद की नैतिक और आध्यात्मिक दूरियाँ निरन्तर सघन बनाई जा रही हैं, वहीं उनके समक्ष दूसरी तरफ 'मानवीय मार्ग' का वैकल्पिक दर्शन हमें बौद्ध धर्म से प्राप्त होता है जिसमें न्याय्य और समुपयुक्त चिन्ताएँ विचारों की स्वेच्छाचारिता से आगे बढ़ जाती हैं और आधुनिकता के संसार की अनजानी समस्याओं का सामना करती हैं। आधुनिकता से पावनता का अपक्षरण हो जाने के कारण हमें अपनी आकांक्षाओं को पूरा करने के लिए शक्ति, अन्तर्दृष्टि, कल्पना और दृढ़ता चाहिए। आज का भ्रष्ट होता जा रहा संसार अब लालच के चतुर्दिक संगठित सभ्यता बन चुका है, धर्मविमुखता पावनता कही जाने लगी है और सभी कुछ तेजी से हिंसावाद में परिवर्तित होता जा रहा है।

मूल्य लम्बे समय तक चलते रहनेवाले वैचारिक और आचरणगत तरीके होते हैं जो वस्तुवादी और विश्लेषणपरक होने के साथ-साथ व्यक्तिपरक और आध्यात्मिक विधियों को भी प्रभावित करते हैं। चिन्तन आत्मपरिष्करण और अन्तर्जगत की साधना में जीवन के ऐसे तत्त्व भी रहते हैं जो बाह्य जगत से प्राप्त होनेवाले आनन्द से भिन्न होते हैं जिनमें वैज्ञानिक प्रविधियों द्वारा निरन्तर विकास करते रहकर दुनियावी इच्छाओं को बढ़ा-चढ़ाकर अधिकतम बनाया जाता है। विशुद्धि मार्गवाली बौद्ध दृष्टि में जिसे चतुर्थ शताब्दि में बुद्धघोष ने प्रतिपादित किया पवित्रता, ध्यान और अन्तर्दृष्टि ये तीन चरण बताए गए हैं जिनसे मन परिष्कृत और शरीर अनुशासित होता है और ऐसा देवत्व प्राप्त होता है जो तभी बना रह सकता है जब सभी कुछ स्वच्छ बना रहे। यह *त्रिलक्षण* बताता है कि सभी प्रकट वस्तुएँ या घटनाएँ *अनिच्च* / परिवर्तन, *दुक्ख* / पीड़ाओं या अपूर्णताओं और *अनत्ता* / अमर आत्मा का न होना, से अविच्छेद्य होती हैं। सभी घटनाओं की अनिश्चितता का चिन्तन करते रहने से मन तीन प्रकार के बन्धनों या उपादानों से मुक्त हो जाता है : *दृष्टि उपादान* (विचारों से चिपटे रहना) *शीलवृत्त उपादान* (नियमों या अनुष्ठानों से चिपके रहना) और *आत्मवाद*

उपादान (व्यक्तित्व के विश्वास से चिपटे रहना)। इन्हें अस्थायी (या अनित्य) समझ लेने पर श्रद्धा भाव अत्यन्त होता है। यह भाव व्यक्ति को हठधर्मिता वाले सिद्धान्तों कर्मकाण्ड और संग्रहवृत्ति या भोगवाद के नकार पर पहुँचाता है। लोलुपता, उलटे विचार और कुटिलता अब अनित्यता में समा जाते हैं। अनन्ता अर्थात् आत्मा का अस्वीकार अनित्यता के सिद्धान्त का ही उपप्रमेय है। बौद्धधर्म स्वीकृति का निहित अर्थ है कि मानव अच्छे विचार, अच्छी वाणी और अच्छे कर्म अपनाकर देवपुरुष बन सकता है और उसे ऐसा बनना ही चाहिए। बौद्ध मत में मानव जीता-जागता, हलचल करता हुआ प्राणी है। उसका विकास होता है, संवर्धन होता है। वह हाड़-मांस का प्राणी है, कोई पारगामी आत्मा नहीं, जो निरन्तर प्रयत्न करते रहकर रचनात्मक इच्छा शक्ति से पूर्णता प्राप्त करता है। स्व की तीव्र भावना ही सारे दुखों की जड़ है। यह मानव को दूसरों की वास्तविकता के प्रति अन्धा बना देती है। जब स्व की भावना विलुप्त हो जाती है तो व्यक्ति मैं और मेरे के अहम्कार या ममम्कार से मुक्त हो जाता है। फिर उससे सभी सचेतन प्राणियों के प्रति संवेदना आती है। ऐसे ग्वाले के लिए जिसके पास कोई गाय रखवाली करने के लिए नहीं होती भेड़िया आया, भेड़िया आया की पुकार कोई भय उत्पन्न नहीं करती। ऐसे व्यक्ति के लिए जिसमें कोई आसक्ति नहीं बची अनन्ता की प्राप्ति ही सबसे बड़ी मुक्ति है। “मैं हूँ” और मुझे अपना विस्तार करना है के घमण्ड की अतियाँ ही आतंकवाद और हिंसा के नीचे छिपी हुई हैं।

अनागरिक धर्मपाल (1864-1933) ने 1893 ई. में शिकागो में हुई विश्वधर्म संसद में कहा था, “बौद्ध धर्म ने आत्मनिर्भरता और स्वतन्त्र चिन्तन करने की आवश्यकता समझाई...वह सृष्टिकर्ता होने के विचार का खण्डन करता है...सभी जीवों को शान्तभाव से देखता है और सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को स्वयं को खोलती जा रही एक नैरन्तरिक प्रक्रिया के रूप में स्वीकार करता है।” उसी संसद में भाषण करते हुए जापान के भिक्षु सोएन शाकु ने बताया कि प्रकृति का नियम बुद्ध की इच्छा से स्वतन्त्र है और मानवों की इच्छा से वह और भी ज्यादा स्वतन्त्र है। संसार की अमीरी-गरीबी, दुखदैन्य और आनन्द को समझाने के लिए किसी दैवी हस्तक्षेप को बीच में लाने की कोई आवश्यकता नहीं है। अटल नियम इस विश्व की प्रगति को संचालित करते हैं। बुद्ध ने जहाँ शाश्वतवाद का सिद्धान्त स्वीकार नहीं किया वहीं उसने उसका उच्छेदवाद भी अंगीकार नहीं किया। इन दोनों सिद्धान्तों को भलीभाँति दायसेत्सु सुजूकी के इन शब्दों से समझा जा सकता है : “हममें से प्रत्येक प्राणी के अन्दर कुछ मिथकीय तत्त्व पाए जाते हैं जिन्हें विज्ञान के पक्षधर रहते हुए भी पूरी तरह से मिटाया नहीं जा सकता।”

दुख की एक विशिष्टता इसका अरुचिकर और पीड़ादायक होना है जिससे दुर्गति उत्पन्न होती है। दुख को सुख के सादृश्य पर कल्पित किया गया है, उपसर्ग

दु का निहितार्थ उलटा, खराब और ख का अर्थ स्थान होता है। यह जीवन का नकारात्मक रिक्त स्थान है जिसे समाप्त कर देना निर्वाण का सर्वोच्च सुख प्राप्त कर लेना है। दुःख में सभी प्रकार की न्यूनताएँ या कमियाँ आ जाती हैं। मानव द्वारा यह समझ लिया जाने पर उदय होता है यह भाव कि मानव स्वयं को पूरी तरह से कभी भी प्राप्त नहीं कर सकता। बौद्ध धर्म का मूल सिद्धान्त चार आर्य सत्त्यों का है (1) दुःख है (2) दुःख का कारण है और उस कारण को जाना जा सकता है, (3) इस कारण को समाप्त किया जा सकता है, और (4) इस कारण को समाप्त करने का एक मार्ग है। दुःख के संयोगी कारणों का विश्लेषण किया जाना चाहिए और उनका परीक्षण करने पर ही अपने को सही तरीके से समझा जा सकता है। दूसरा सत्य यह है कि सभी प्रकार की वासना या तृष्णा बहुत जबर्दस्त मानसिक वृत्ति है। तीसरा सत्य सभी प्रकार की तृष्णा का अन्त कर देना है। चौथा सत्य मध्यम मार्ग अथवा दुखों की निवृत्ति करने के लिए स्वर्णवत् बीच का रास्ता समझ लेने का है। इसे सत्य अष्टांगिक मार्ग कहा गया है। पहले तीन सत्य बौद्ध धर्म का दर्शन है और चौथा सत्य इस दर्शन के अनुसार व्यवहार करने अथवा कर्म का है।

दुःख की सभी पाशविक शक्तियों को दूर कर सुख तक पहुँचाने के लिए आर्य अष्टांगिक मार्ग को ज्ञान, नीति और ध्यान इन तीन तत्त्वों में बाँटा हुआ है

प्रज्ञा	सम्यक्	दृष्टि
	सम्यक्	संकल्प
शील	सम्यक्	वाणी
	सम्यक्	कर्म
	सम्यक्	आजीविका
समाधि	सम्यक्	व्यायाम
	सम्यक्	स्मृति
	सम्यक्	समाधि

ज्ञान सत्य के सम्यक् बोध और उसको अनुभव से परीक्षित करने तथा सम्यक् विचार करने से आता है एवं यह कि व्यवहार करनेवाले का उद्देश्य दूसरों के कल्याण के लिए निःस्वार्थ भाव से कार्य करने की तत्परता होनी चाहिए। आर्य मार्ग में निष्ठा रहने की आवश्यकता यह है कि हमें परोपकारी और दयालु बन जाना चाहिए। और आत्मकेन्द्रितता (उन्मुखता) से हटकर अलग हो जाना चाहिए। बौद्ध धर्म विश्व से विमुख होना नहीं बल्कि उसमें श्रेष्ठतर व्यवस्था लाने के लिए सहायता पहुँचाना सिखाता है। बुद्ध ने भिक्षुओं को बाहर निकलकर बहुजन हिताय बहुजन सुखाय इस तरह से कार्य करने के लिए प्रेरित किया कि वे लोग समझें कि यह कार्य उन्हीं के सुख के लिए किया जा रहा है।

नीति सम्यक् वाणी में निहित है जिसमें झूठ न बोलना, गप्पें न लड़ाना, चुगली न करना आ जाते हैं। सम्यक् वाणी खुली और सच्चाई की होती है। नीति सम्यक् कर्म या सद्व्यवहार भी है। सम्यक् कर्म के पंचशील ये हैं

- (1) किसी प्राणी को हानि न पहुँचाते हुए जीवन व्यतीत करना।
- (2) जो कुछ अपना न हो अथवा चोरी किया गया हो उसे न लेते हुए जीवन बिताना।
- (3) इन्द्रियों का दुरुपयोग न करते हुए मुक्त जीवन बिताना।
- (4) किसी भी तरह का झूठ न बोलते हुए मुक्त जीवन बिताना, और
- (5) नशीले पदार्थों या मादक द्रव्यों का सेवन करने से मुक्त रहते हुए जीवन बिताना।

नीति का अर्थ सम्यक् आजीविका भी है अर्थात् अपने काम में एकात्मता लाना, अपने उद्देश्यों में स्वच्छ होना तथा इस तरह से अपना काम करना कि उससे किसी को हानि न पहुँचे तथा दुनिया में किसी तरह का प्रदूषण न फैले। सम्यक् प्रयत्न करने से तात्पर्य है कि हम अपने कार्यों से पड़नेवाले प्रभावों के प्रति सावधान रहें।

ध्यान का अर्थ सम्यक् चित्तवृत्ति और सम्यक् चिन्तन है। यह आर्य अष्टांगिक मार्ग की अपनी समझ को परिष्कृत बनाना है। यह अपने को ऐसी स्थिति में पहुँचाना है जहाँ शान्ति और परिवर्तनशील चिन्ताओं का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इसके दो तत्त्व होते हैं *समता* और *विपस्सना*। *समता* में व्यक्ति अपना ध्यान एक ही वस्तु पर केन्द्रित कर लेता है, *विपस्सना* में उपासक या व्यवहारकर्ता विचारों और भावनाओं को तटस्थ भाव से उदय और अस्त होते हुए देखता रहता है। अन्त से आतंकित हुए बिना उदात्त बने और उदात्त बनते जीवन की सेवा में ज्ञान और नीति के कार्यों को सम्पन्न करता है। आर्य अष्टांगिक मार्ग *सासतवाद* और *उच्छेदवाद* दोनों से आगे पहुँचानेवाला मार्ग है। बुद्ध हमारा आह्वान करते हैं कि स्वयं आकर *एहि पारिसक* धर्म को देखने के लिए आप *एहि सागत वादिन* हैं। इसके लिए कोई बने-बनाए दृढ़ नियम या धर्म रूढ़ियाँ नहीं केवल शुद्धता से व्यवहार करने की प्रौढ़ता होनी आवश्यक है। बौद्ध धर्म में कोई उपदेशमाला नहीं, कोई दिशानिर्देश प्रस्तुत नहीं किए गए हैं।

चार ब्रह्म विहार विचार और भावों की चार स्थितियाँ हैं *मैत्री*, मित्र भावना, *करुणा*, दया भावना, *मुदिता*, प्रेम भावना और *उपेक्षा*, समभाव। ये सामाजिक कल्याण करने की उदात्त दृष्टियाँ हैं, मन की दैवी स्थितियाँ हैं जिनसे मन सम्पूर्ण विश्व को प्रेम, दया, करुणा और समभाव से आप्लावित कर देता है, यह सभी प्रकार की समाज-विरोधी प्रवृत्तियों जैसे *व्यापदा* और *हिंसा* का प्रतिकार है। *करुणा* साथी प्राणियों के प्रति दया और सहानुभूति रखना है। महायान में बुद्ध की अनुकम्पा के बत्तीस पक्ष बताए गए हैं, यही अन्ततः बोधिसत्त्व आदर्श बन गए जो अन्य प्राणियों की भलाई के लिए अपना निर्वाण भी त्याग देता है। *मुदिता* दूसरों की उनकी अपनी खुशी में आनन्द मनाने और उनके साथ मिलकर स्वयं प्रसन्न होने की इच्छा है। यह सामाजिक समवाय है। चौथी *उपेक्षा* का अर्थ व्यक्तिगत रागद्वेष से मुक्त रहकर सामाजिक मूल्यों का परिपालन करना है। इन चार उदात्त स्थितियों या ब्रह्म विहारों का ध्यान करते रहने

की तनावों को दूर करने, लगे घावों को भरने, सामाजिक बाधाओं को समतल बनाने और समरसता प्रेरित करने में असाधारण संगति रही है। सुतनिपात का कथन है

जिन-जिन प्राणियों का संसार में अस्तित्व है
चाहे वे कमजोर हों या बलवान, निरपवाद रूप से,
बड़े, लम्बे, मध्यमाकार हों या छोटे आकार वाले
छोटे हों या बड़े, दिखने वाले या अदृश्य
पास रहें या दूर, जन्म ले चुके हों, या चाह रहे हों जनमना,
ऐसे सभी प्राणी हृदय से प्रसन्नमन रहें
कोई भी, किसी अन्य की, किसी भी परिस्थिति में, करे न अवमानना।
जैसे कोई माँ, जान जोखिम में डाल, रक्षा करे, अपने इकलौते बेटे की,
वैसे ही सभी प्राणियों के प्रति खोल दें, अपना निर्बन्ध हृदय।

बौद्ध धर्म आत्मा, ईश्वर, परलोक और पावनता के बारे में मौन है। इसमें ईश्वर के लिए कोई लड़ाई-झगड़ा नहीं। आज के अति भोगवादी संसार में बौद्ध धर्म परोपकारी होने से मानवमात्र के प्रति मित्रता ही है। धारणाओं को बीच में लाए बिना यह जीवन में ही उच्चता अनुभव करने का एक उपाय है, जो अकृत्रिम, स्वाभाविक और सरल है। यहाँ जीवन में पहले से दिखाई न पड़नेवाले किसी शून्य को भरने के लिए ध्यान लगाया जाता है। यह खोखला मानव बनना नहीं है जिसे रूढ़ियों से ठसाठस करके भरना अभीष्ट है। यह विश्व के महान में भाग लेते हुए *भूय्योभाव* से 'कुछ अधिक' बनना है। बनते जाने का लम्बा मार्ग या यान है, जैसा आगे चलते जाते हुए हम अपने को देखते हैं। दीघनिकाय 33.1.11 का कथन है : "अच्छे मूल्य निरन्तर बने रहते हैं, उन्हें अधिक बनाने के लिए स्पष्ट बनाया जा सकता है, उनके विस्तार के लिए, उन्हें 'कुछ' बनाने के लिए, उनकी रक्षा करने के लिए, वह अपनी इच्छा शक्ति का उपयोग करता है, प्रयत्न करता है, ऊर्जा को गति देता है, अपना मन पक्का बनाता है, वह संघर्ष करता रहता है (कैरोलिन रिज डेविड्स)।

बोधिसत्त्वों की बुद्धत्व प्राप्ति तक होनेवाली प्रगति में आध्यात्मिक उपलब्धियों या पारमिताओं की छह अवस्थाओं *दान*, *शील*, *शान्ति*, *वीर्य*, *ध्यान* और *प्रज्ञा* का व्यवहार करना है। बौद्ध धर्म मानव जीवन और उसके नीति-शास्त्र को जीवन और पुण्य में समरसता रखते हुए किसी बाहरी प्राणी का हस्तक्षेप हुए बिना पावन बनाता है।

बोधिसत्त्व इस सत्य का साक्षात्कार कर लेते हैं कि "सत्य इस विश्व की धूलि के कण-कण में हर जगह व्याप्त है। सारा संसार एक सूत्र, एक शास्त्र है।" अवतंसक सूत्र का कथन है : "कहीं भी कोई संवेदी प्राणी ऐसा नहीं और संवेदनाओं वाला कोई भी काय ऐसा नहीं जिसको तथागत का आन्तरिक ज्ञान और बुद्धि मिली हुई न हो।"

आज के युग में जब नई शताब्दी सभ्यता के गतिरोध पर अटकी अँधेरे में दिशाएँ टटोलती हुई चेतना के प्रतीकों की सम्पूर्णता की ओर डग भरने को खोजने में लगी हुई है तो इसके लिए बौद्ध मध्यम मार्ग ही एकमात्र उचित मार्ग दिखाई देता है। यह हमें कालातीत दिवस के साथ, विचारधारा से विचारों तक, विचार से जागृत करती जागरूकता की तरफ संलाप करने का आवाहन करता है ताकि हम जीवन की तटरेखा से छोटे-छोटे पाषाण-कणों को अपने हृदयों में वापस ले जा सकें और उन्हें मोतियों जैसा बना लें जिनके साथ हमारी बाँहों के अन्दर समाया हुआ चेतना का महासागर इनके साथ लिपटता हुआ हमारे अन्दर चला आए। सहस्राब्दियों के मध्य हमें कोई पत्ता कोई बीजाक्षर अथवा कोई मन्त्र मिल जाता है जो हमारे मन की शान्ति और शून्यता के प्रति हमारा आह्वान करता है फलस्वरूप विशालतर विश्व हमारे व्यक्ति-जगत में प्रविष्ट हो जाता है। उन संलापों पर विचार करते हुए जिनसे हमें विफलता ही हाथ लगी और प्रयासों ने हमें पीड़ित करते-करते निःसत्त्व कर डाला, हम लयों के पुनर्नव बनाते दमकते जलों, आध्यात्मिक और वैज्ञानिक प्रवाहों के भीतर जाकर स्वयं की खोज करते हैं और मानव की आन्तरिक एकता और सतत परिवर्तनशील वर्धमान सम्पूर्णता में अपने को विकसित कर देते हैं।

मानवता इस समय आधुनिकता, पर्यावरण प्रदूषण और सांस्कृतिक महाप्रलय से लग रहे तिहरे आघातों के परिणामस्वरूप नव सर्जित शिशु के समान बनी हुई है। हम अपने पितृदाय, जीवमण्डल और सृजन से निर्मित प्रविधिमण्डल से बने असन्तुलन के कगार पर खड़े हैं। हमारे सामने ऐसा भविष्य मुँह बाये खड़ा है जिसमें ऐसा अपरिहार्य संकट विद्यमान है जैसा इससे पूर्व मनुष्य जाति ने कभी नहीं देखा था। यह एकाएक सिर पर आ गिरा विश्वव्यापी दुःख का पहाड़ है।

दुःख की उत्पत्ति यह समझ लेने पर होती है कि मानव किसी भी तरह अपने को पा ही नहीं सकता। अनन्त समय घड़ियों से कहीं अधिक विशालतर है। सुगन्ध लिए चल रहा बौद्ध मन्द पवन लोगों की बोधिसत्त्व आदर्श के प्रति संवेदनाएँ जगाता है। बोधिसत्त्व का वचन है : “मेरे लिए इस सारे संसार के सभी प्राणियों को जन्म लेने, वृद्ध होने, बीमार पड़ने, मृत्यु का ग्रास बनने और फिर से जन्म लेने की पीड़ाओं से, सभी प्रकार के नैतिक पापों या अपराधों, शोक करने की सभी स्थितियों से, जीवन और मरण के सम्पूर्ण चक्र से, मिथ्या धारणाओं के जंगल से, हितकारी धर्म के लोप से और उसके साथ लगे अज्ञान से मुक्त कराना आवश्यक है।” निःस्वार्थ प्रेम, अनन्त करुणा और सम्पूर्ण विश्व को मुक्ति दिलाने का बोधिसत्त्व आदर्श लोगों और राष्ट्रों को पारस्परिक घृणा, भय और जीवन की असुरक्षा से मुक्ति दिला सकता है। पिछली पच्चीस शताब्दियों से बौद्ध धर्म ने समझ-बूझ और संकल्प, मेल-जोल और करुणा का अपना सन्देश संसार में फैला रखा है जो उसे मानवनिष्ठा के सार्वत्रिक क्षितिज तक पहुँचा सकता है।

विमलकीर्ति निर्देश संस्कृत से कुमारजीव ने चौथी शताब्दी ई. में चीनी भाषा में रूपान्तरित किया। तब से ही यह पूर्वी एशिया के देशों को प्रभावित करता चला आ रहा है। यह संसार और निर्वाण की पहचान कराता है। चूँकि ये दोनों एक ही हैं इसलिए व्यक्ति संसार का पुनर्मूल्यांकन करके दुखों से मुक्ति प्राप्त कर सकता है, उससे दूर भागकर नहीं। इसमें आदर्श उपासक व्यक्ति विमलकीर्ति का निरूपण किया गया है जिसने सभी संसारियों को लाभ पहुँचाया।

बौद्ध धर्म सामाजिक अन्याय को दूर करने के उपाय तथा व्यक्ति के गहन आयामों की प्राथमिकताओं का प्रतिपादन करनेवाली आध्यात्मिक शक्ति के रूप में उभरा। बौद्ध सम्राट् अशोक ने जो कल्याणकारी राज्य स्थापित किया वह बौद्ध धर्म की सदा उपयोगी रहनेवाली शिक्षाओं की आत्मा का ज्वलन्त उदाहरण है। अंगुत्तर निकाय में बुद्ध कहते हैं : “जिसे समझ और महान ज्ञान की जानकारी है वह स्वयं अपने अथवा किसी दूसरे को हानि पहुँचाने की बात सोच ही नहीं सकता और न दोनों की हानि पहुँचाने की। इसके बजाए वह केवल आत्म कल्याण की अथवा पूरे संसार के कल्याण की, अथवा दोनों के ही कल्याण की बात सदा सोचता है, तथा पूरे संसार के कल्याण की बात सोचता है। इस प्रकार वह अपनी समझ और अपने महान ज्ञान को प्रकट करता है।”

विमलकीर्ति निर्देश में एक देवी पर ध्यान केन्द्रित किया गया है जो विमलकीर्ति के निवासगृह में अवसित है। वह लीलाभाव से स्वयं बुद्ध के शिष्य सारिपुत्त को वाक् चातुर्व्य प्रदर्शन में प्रवृत्त करती है। व्यंग्य और माया के आकर्षक प्रदर्शन से देवी अपने वाद स्थापन में विजयी रहती है। स्त्रियों से सम्बन्धित समानता बरतने की बौद्ध परम्परा के अनेक उदाहरणों में से एक अन्य उदाहरण ‘राजमहिषी श्रीमाला सूत्र’ है। इसमें एक ओर तो एक सामान्य उपासिका स्त्री की गरिमा और बुद्धिमत्ता को चित्रित किया गया है तो दूसरी ओर उस स्त्री की दार्शनिक और शिक्षक होने की भूमिका बताई गई है। बौद्ध साहित्य में स्त्री की भूमिका उसकी भौतिक सत्ता मात्र होने से अधिक की भी है। वह परम ज्ञानवती, आनन्दमयी और परम कृपालु शिक्षिका है जो सत्य का प्रकटीकरण करती है। वह वज्र लोक की महारानी वज्रधात्वेश्वरी है।

जीवन की भौतिक सम्पदाओं को चेतना से आगे की उन निधियों के साथ समरस बनाना है जिन्हें आनन्द और समाधि, विजय और गरिमा, समादरयुक्त आश्चर्य और गहन से परे की गहनता के आश्चर्य द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। चेतना का रूपान्तरण धर्म में हर कोई, जो कमल सूत्र की मात्र एक गाथा पर ध्यान लगा पाने में समर्थ हो, अनुभव कर सकता है। ऐसे व्यक्ति को सारे संसार को तथागत के रूप में जानना चाहिए जिनमें देवी-देवता भी आ जाते हैं, और कमलसूत्र के शब्दों में, “तथागत के रूप में ही उनका सम्मान किया जाना चाहिए।”

संसार में सभ्यता-संस्कृति परक स्तर मानव के आविर्भाव के पश्चात् आया। इसने नई वास्तविकताओं को जन्म दिया। अचेतन अस्तित्ववाले अन्धकार में इससे एक प्रकाश उदित हुआ। यह सृजन बन गया। भाषा को सार्थक प्रेरणाएँ प्राप्त हुईं और उसके साथ रहनेवाली स्मृति भी उन्हें मिली। यह सांस्कृतिक आयाम सीमेण्ट की तरह है जिसके बिना सब कुछ अलग-अलग होकर बिखर जाएगा। मानवों को एक भूमि चाहिए जिसे वे अपना घर कह सकें और ऐसा होने पर भी उन्हें विदेशी भूमियों को जानने की उत्सुकता है। बदली हुई माँगों के प्रति अनुकूलित बनने के लिए असीमित संभावनाएँ मौजूद हैं। सांस्कृतिक क्षमता में इनकी शक्ति है और बृहत्तर पर इसमें पूरी तरह से नई क्रान्ति आनी ही चाहिए। यह दुर्भाग्यपूर्ण भ्रान्त धारणा कि 'मानव' अब जैविकीय नींवों पर आश्रित नहीं रहा और प्रकृति से अलग रहनेवाला प्राणी बन गया है, चलनेवाली नहीं है। योग्यता की कसौटियाँ जीवन और प्रकृति दोनों को मिलाकर ही तय होंगी। सभ्यता की स्वतन्त्रता अपने बच्चों का ही भक्षण नहीं कर सकती। हम परिस्थितियों पर डाले गए सभी बोझों को उचित नहीं ठहरा सकते और सारे पुनर्जनन को बरबाद किए जाने नहीं दे सकते। बौद्ध *मध्यमा प्रतिपदा* या मध्यम मार्ग ही अतिवृद्धि, भागमभाग, प्रकृति, मानवों और स्वयं अपनेपन के अतिदोहन की प्रतिविष औषधि है। क्या मानव मिट्टी का बना कोई खाली घड़ा है कि उसे विकास से भर दिया जाए? क्या वह रिक्त नीलाकाश में लटके हुए एकाकी चन्द्रमा के समान है? मानव को अपने कलमदान पर चढ़े अपवित्र शब्दों को ऐसे विचारों द्वारा, जो मार्ग के किनारे कहीं और खोए गए हों, धोना और अपने हृदयों को परिवर्तित करना, गन्धगियों को दूर करना ही होगा ताकि उनके शरीर और मन पारदर्शी रूप से पवित्र बन जाएँ। उत्तरी सुंग वंश के महाकवि सूशिह (1007-1101) कहते हैं

आज जब मैं पर्वतों की चोटियों पर चलता हूँ

स्व और संसार दोनों, भूल जाता हूँ

अमर्त्यों से आता पवन मेरा सिर है सहलाता

बाँधते समय केश अपने, रहस्य उनके प्रकट होने लगते।

प्रकृति की पावनता शाक्यमुनि से तथागत बुद्ध रूप में विकसित होते जाने के दीर्घकाल का प्रतिनिधियान पाँच सौ जातकों में किया गया है जिनमें पारमिताओं का अभ्यास दर्शाया गया है। ये अत्यधिक मूल्यवान गुण हैं और ये केवल मानव अवतारों में ही उदाहृत नहीं किए गए हैं बल्कि पशुओं द्वारा भी इन्हें दर्शाया गया है। इन्हें कई जातकों में बतलाया गया है। इनमें बिम्ब भाव से गुण सृजित किए गए और जीवन के सभी स्तरों को उच्चाशयों तक ऊँचा उठा दिया गया तथा मानवों को प्रकृति के प्रति जागरूक बनाया गया। इन मानसिक उड़ानों ने हमारे अन्दर नई संवेदनाएँ उत्पन्न कीं, पवित्रता, प्रकाश और उदात्तता का वैश्विक प्रकटन किया और सहजीविता में शुद्ध आनन्द प्राप्त होने की खोज की। प्राणियों को मारना या हानि पहुँचाना दुष्कर्म

है। सभी जीवों के प्रति दया और सहानुभूति रखना बौद्ध धर्म की आत्मा है। मनुष्य का कभी सन्तुष्ट न होनेवाला लोभ ही सारे पर्यावरणिक संकट का मूल कारण है।

बौद्ध धर्म अल्प से सन्तोष करने, बरबादी न होने देने और सावधानीपूर्वक प्रकृति को उपयोग में लाने का पक्षपाती है। अंगुत्तर निकाय के अनुसार बुद्ध कुछ थोड़े से फल खाने के लिए उदुम्बर (या गूलर) वृक्ष को अविचारपूर्वक हिला-हिलाकर बहुत-सारे फल जमीन पर नीचे गिरा देने की भर्त्सना करते हैं। सन्तोष उदुम्बर के इस बरबादी-भरे *उदुम्बर-खादिक* पूर्वाधिकार को बचा सकता है। इसका अर्थ न केवल स्पष्ट उपभोग पर प्रतिबन्ध लगाना है बल्कि जरूरतमन्दों की सहायता करना भी होगा। इसके लिए नई जीवन-शैलियाँ, नए जीवन मान और नई दृष्टियों को, जीवन को सम्पूर्णता में लेते हुए चलने की दिशा में बढ़ाना होगा, जिनमें मानवों और मानव-इतरों, दोनों को साथ लिया गया हो। ध्यान करने पर गिरती हुई पत्तियाँ, मुरझाते हुए फूल और बदलते हुए मौसम घटनाओं की अनित्यता के प्रति ध्यान दिलाते हैं। पेड़-पौधों की अपनी कोई इच्छा नहीं, कोई ग्रहणशीलता नहीं, कोई क्रोध नहीं होता और इसलिए वे हमारे आध्यात्मिक गुरु हैं। बुद्ध स्वभाव सारी प्रकृति में परिव्याप्त है।

सैकड़ों सूत्रों में मिलनेवाला बौद्ध धर्म वास्तविकता के बहुत सारे रूपों के प्रति खुलेपन का परिचायक है। वे अर्थों और जीवन की बहुत सारी संरचनाएँ हैं जिनमें हम निरन्तर रहते हैं। किसी एक ही मानव अर्थ को कोई सार्वत्रिक सुझाव दिया ही नहीं जा सकता, उसकी गहराई को क्षण-क्षण परिवर्ती अनेक पुराने चीथड़ों से बनाए थैले में से निकाल बस जिया जा सकता है। बौद्ध धर्म हमारी अपनी और दूसरों की विविधताओं को स्वीकार करना सिखाता है। दूसरों को भी इल्हाम की कड़रता से अलग हटकर उसके विपरीत वर्धमान चेतना को स्वीकार करना होगा; यह आधुनिक अस्तित्व में मिलनेवाली विविधता में एक नए प्रकार की विनम्रता होगी। बौद्ध धर्म अपने केन्द्र में खुला हुआ है। यह शुद्ध सत्त्व मात्र है जो विविध निर्वचनों को इस खुलेपन को भरने का आमन्त्रण देता है। यह रूढ़धर्मिता अथवा धर्ममन्दिरों से निःसृत होनेवाले स्थिर सिद्धान्तों से लदा हुआ नहीं है और इसीलिए यह सुनिश्चित करता है कि संसार ग्रन्थशासित नहीं रह जाएगा, इसका शासन किसी धर्मपुस्तक से नहीं किया जाएगा। यह खुली जगहें छोड़ता है और उनकी पूर्ति के लिए कोई वचन नहीं देता। इतिहास और रहस्य, भक्ति और काव्य, उपदेशावली और सौन्दर्यशास्त्र इसके लम्बे इतिहास में परस्पर गुँथे हुए मिलते हैं। इसका अर्थ घटनाओं के बीच में से निकलकर बाहर आता है, जीवन की बुनावट और संरचना से उद्भूत होता है। निर्वचनकारी साधित्र सर्वदा निर्माणशील बना रहता है।

बौद्ध धर्म हमारे भीतर निवास करनेवाली शक्ति, आत्मा का भूदृश्य-निर्माण करता है और उन शक्तियों को प्रेरित करता है जो झरने की लय के अन्दर सुषुप्त पड़ी

रहती हैं; यह सत्य का सार बना हुआ है जो विश्व प्रपंच के साथ आगे चलता जाता है। धर्म उँगलियों के स्पर्श से प्राप्त होनेवाली खुशी को मस्तिष्क से मिलनेवाले आनन्द के साथ जोड़ता है।

जब-जब और जहाँ-जहाँ बुद्ध की वाणी पहुँची, वहाँ-वहाँ मानव, प्रकृति और देवत्व के बीच समरसता बढ़ी, प्रत्येक की प्रतिध्वनियाँ चेतना के अनेक स्तरों पर बार-बार गुंजरित होती जाती सुनाई पड़ीं। जापानी कवि साइग्यो (1118-90) द्वारा एक साधु की कुटिया पर लिखी गई कविता जैसे कवि का चाँदनी के साथ किया गया सम्मिलन-साक्षात्कार है जो उस टूटी-फूटी खँडहर बनी फूस की कुटिया में से होकर निरन्तर बरस रही है

तो ऐसे बितार्ई मैंने अपनी रात

चन्द्रमा के साथ, बिस्तर पर लेटे-लेटे

नरकुल से बनी मेरी छोटी कुटिया की छत में

बने छेदों से, चोरी चोरी वह वहाँ आता रहा

जापानी भिक्षु एंकु ने हजारों मूर्तियों का निर्माण किया। वे 'खण्ड बुद्ध' कही जाती हैं जिनमें संक्रमण स्तर बहुत तीखे बनाए हुए हैं और वस्तु-स्तर के साथ हुई औजारों की टकराहटों को प्रदर्शित करते हैं। एंकु ने सृष्टि का हृदय मूर्ति में ढाल दिया है। लम्बे-लम्बे बाज और चेरी के वृक्ष जिन पर *विस्टरिया* (गरल कलाय) की लताएँ लिपटी हुई हैं अब उस जगह खड़े हुए हैं, जहाँ एंकु ने निर्वाण प्राप्त किया था। गाँव में रहनेवाले लोग बताते हैं कि यदि कोई इन लताओं को काटेगा तो इनमें से रक्त की धाराएँ फूटकर बहने लगेंगी। यह जीवन का सृजनात्मक स्पर्श जो है! प्रकृति के राज्य में दिखाई न पड़नेवाले तत्त्वों पर ध्यान दीजिए।

वृद्धि-वृद्धि-वृद्धि के पागलपन ने प्राकृतिक सन्तुलन को बरबाद करने में भारी भूमिका निवाही है और पूरी परिस्थिति-संहति को अस्तव्यस्त कर डाला है। सकल राष्ट्रीय उत्पाद का सकल राष्ट्रीय प्रदूषण बन जाने का खतरा विद्यमान है। प्रौद्योगिकीय पूजापाठियों का नया धर्मसम्प्रदाय जिसका कर्मकाण्ड प्रकृति को विजित करना बना हुआ है, जीवन के प्राकृतिक जालपुंज को बरबाद करने ही वाला है। पर्यावरण के लिए हम आग से बना जला डालने वाला वस्त्र तैयार कर रहे हैं, इसके अन्दर भी और उसके बाहर भी। क्या हमें ऐसा करने का अधिकार है भी?

घोर अन्धकारभरी इस कालरात्रि में मानव प्रकाश की खोज कर रहा है। अपनी गहनतम जरूरत में वह भोर लानेवाली चेतना की तलाश में है। विश्वपट को वह नए सिरे से लेपना चाहता है, अनन्त प्रक्रिया के आदिस्रोत में जो तत्त्व है उसका पुनर्मूल्यांकन करना चाहता है। वास्तविक और कल्पित के भीतर से भविष्य उत्पन्न होता है जिसमें मानव अपने से ऊँचा उठकर संस्कृति के गतिशील वाहक के रूप में प्रकट होता है। वह वर्तमान की नदियों को पारकर अजन्मे कल के दूसरे किनारे पर

नाव को खेकर ले जाता है। सीमाओं को पार करना मानव को मिला जो पितृदाय है अथवा प्रज्ञापारमिता सूत्र की गूँजती हुई वाणी में कहा जाए तो *गते गते परगते पर-संगते बोधि स्वाहा*। यह पारमिता हमारे हृदय को जगमगाती और प्रकाशित करती है तथा अपना जीवन करुणा, ज्ञान और सौन्दर्य से जीने का आह्वान करती है। इस पारमिता में मानव को अन्य सभी मानवों, सब पदार्थों तथा अनन्त के सभी तारागणों और सारी शून्यता का ही एक भाग बताया गया है। क्या मैं यह खोज करने के बाद घर यह जानने को वापस लौटूँ कि मेरा कोई घर ही नहीं है। नहीं, मानवता एक आध्यात्मिक भाषा बोलेंगी तथा विज्ञान और प्रौद्योगिकी तो मात्र इसकी विभाषाएँ हैं।

जीवन नदी के दोनों किनारों के बीच एक धारावाही दीपित बहाते जाने की आवश्यकता है जो मानवों को परामानव बनाकर देवताओं में परिणत कर दे। बुद्ध के सार्वकालिक सन्देश के ये शब्द मानवों द्वारा किए जानेवाले कार्यों को रेखांकित करते हैं *बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय*। मानवता का अंग बन जाने पर जो कुछ भी है वह मानव का है, उसके लिए कोई पराया नहीं रह सकता।

बौद्ध धर्म ने इस विश्व को करुणा से चुम्बित किया मानवों के हृदय में प्रकाश और प्रेम का जाल बुन दिया, जीवन की एकाकी पड़ी स्थितियों की गम्भीर छायाओं में नए दीपक जला दिए, धर्मरूढ़ियों को खुले क्षितिजों से आलोकित कर दिया, कल्ले आम के कर्मकाण्ड की जगह पुष्प प्रस्तुत किए, दीप जलाए, भयंकर महामारी से त्रस्त हुई दीवार की छाया तले पड़ी नर्तकी बाला को, जिसके शरीर का अंग-अंग घावों से भरा हुआ था, जो कभी यौवन की मदिरा का आकण्ठ पान किया करती थी, करुणा दी। मानव के शुष्क हृदय को, जो बिना क्षणभर रुके, न जाने कहाँ की खोज में, पागल हुआ दौड़ रहा था, शान्ति के इस राजकुमार ने अनित्यता, शून्यता और पारमिता का उपहार दिया। नीरवता की प्रवहमान शताब्दियों से अनन्त प्रेम की प्रार्थना का स्वर उभर रहा है *बुद्धं शरणं गच्छामि*, बुद्ध मुझे अपनी शरण में लें।

सभी भिक्षुओं को आनन्द के माध्यम से कहे गए भगवान बुद्ध के अन्तिम वचन ये थे “हम तो झड़ जानेवाली पत्तियाँ हैं किन्तु वृक्ष तो सदा बना रहेगा, सो आनन्द, अपनी शरण आप बनो, अपने दीपक आप बनो”।

आचार्य शुक्ल की रस-दृष्टि

डॉ. कुमार विमल*

आचार्य शुक्ल ने अपने साहित्य-चिन्तन में एक ओर लोक-संग्रह, लोकमंगल, जनता की चित्तवृत्ति, युग की परिस्थिति एवं अन्तःप्रवृत्ति तथा कवि की मनोवृत्ति को दृष्टिगत रखा है और दूसरी ओर उन्होंने रस-दृष्टि को भी महत्त्व दिया है। शुक्ल जी की यह रस-दृष्टि रसात्मक बोध के विविध रूपों का आकलन करती हुई मुख्यतः साधारणीकरण पर केन्द्रित रही है। रस-मीमांसक और रसज्ञ शुक्ल जी के अनुसार साधारणीकरण ही कवि के भाव-योग को प्रेषणीय बनाकर उसका रागात्मक सम्बन्ध लोक-चित्त के साथ स्थापित करता है। अतः आचार्य शुक्ल की रस-दृष्टि को समझने के लिए साधारणीकरण के सामान्य स्वरूप की पृष्ठभूमि में साधारणीकरण से सम्बन्धित मान्यताओं पर विचार कर लेना आवश्यक है।

साधारणीकरण हमारे साहित्य-शास्त्र का, विशेषकर रसवादी सम्प्रदाय का, प्रमुख विषय रहा है। नाट्यशास्त्र के आदिप्रणेता भरत मुनि की इस स्थापना 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' की अपने-अपने मत के अनुसार व्याख्या करनेवाले लगभग ग्यारह आचार्य¹ हो चुके हैं, जिनमें लोल्लट (नवमी शताब्दी), शंकुक (नवमी शताब्दी), भट्टनायक (नवमी-दसवीं शताब्दी) और अभिनवगुप्त (दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी) विशेष गौरव के अधिकारी हैं। इन्हीं रसवादियों की आधुनिक परम्परा में शुक्ल जी आते हैं, जिन्होंने ऐकमत्य से रहित इस महत्त्वपूर्ण विषय को कुछ बोधगम्य बनाकर उपस्थित किया है। पाश्चात्य काव्यशास्त्र और कलाशास्त्र में बहुधा निरूपित 'प्रेषणीयता' इसी विषय का एक पहलू है।

आचार्य शुक्ल की स्थापना के विश्लेषण के पूर्व यह समुचित होगा कि हम संक्षेप में उपर्युक्त चारों आचार्यों के मत को समझ लें, ताकि प्रस्तुत विषय का सतर्क विश्लेषण-मूल्यांकन हो सके।²

भरत की 'रसनिष्पत्ति' के सर्वप्रथम व्याख्याता भट्ट लोल्लट 'उत्पत्तिवादी' थे। इन्होंने अपनी 'मीमांसा-निगडित दृष्टि' से 'निष्पत्ति' का अर्थ 'उत्पत्ति' माना और

* लेखक पूर्व कुलपति, प्रशासक, शिक्षाविद एवं लेखक हैं।

96 एम. आई. जी. एच., लोहिया नगर, पटना-20.

कार्य-कारण-भाव के अनुसार रस की मूल स्थिति अनुकार्यों में मानी। अर्थात्, रस का वास्तविक आस्वादन³ नायक-नायिका करते हैं और उनकी वर्णिका में उपस्थित नट-नटी के माध्यम से, उनके 'रस की प्रतीति'⁴ करने के बाद सामाजिकों के हृदय में रस उत्पन्न होता है। इस प्रकार सामाजिक (सहृदय) नट-नटी में नायक-नायिका का आरोप कर, नाटक का आनन्द लेता है। सारांश यह कि सामाजिक का रसास्वादन प्रतीतिजन्य और अपरागत है, जबकि नायक-नायिका की रस-दशा वास्तविक है। यदि लोल्लट की यह व्याख्या स्वीकार कर ली जाए कि रस⁵ की 'उत्पत्ति' होती है, तब यह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठता है कि नायक-नायिका में 'उत्पन्न' होकर वह रस दर्शक में किस प्रकार संक्रमित होता है।

तदुपरान्त, रस-निष्पत्ति के दूसरे व्याख्याता थे अनुमितिवादी नैयायिक शंकुक, जिन्होंने 'गम्य-गम्यक-भाव' से रस-निष्पत्ति मानकर अनुमितिवाद चलाया। इनके अनुसार विभावादि के संयोग से स्थायी भाव का अनुमान किया जाता है। यद्यपि अनुमान का आधार कृत्रिम होता है, तथापि नट की कला के कौशल से पूर्वानुभव के संस्कारों से युक्त सामाजिकों के मन में वह स्थायी भाव का अनुमान ही रस बन जाता है। शंकुक की अनुकरण और अनुमान सम्बन्धी दोनों मान्यताएँ सर्वथा निर्भ्रान्त नहीं हैं। अभिनेता के लिए अनुकार्य की वेश-भूषा, कार्य-कलाप और अनुभावों का यथाशक्य अनुकरण कर लेना सम्भव है; किन्तु, स्थायी भाव और सहचारी तो सर्वथा अनुकरणातीत हैं। दूसरी आपत्ति यह है कि मिथ्या आधार पर सत्य की प्रतीति नहीं हो सकती। अतः चित्र-तुरंग-न्याय के व्यवहित माध्यम से रस-दशा की अवितर्कावस्था की प्राप्ति को स्वीकार करना कुञ्जाटिका-वेग को चलायमान धौतस्तूप मानने से कम भ्रामक नहीं है।

इसके बाद भट्टनायक ने सांख्यवादी दृष्टि के अनुसार 'भोज्य-भोजक-भाव' से 'भुक्तिवाद' की स्थापना की। इन्होंने रस-निष्पत्ति की तीन प्रक्रियाएँ मानी हैं—अभिधा, भावकत्व और भोजकत्व। अर्थात् (क्रमशः) शब्दार्थ-ज्ञान के उपरान्त विभाव एवं रत्यादि स्थायी भाव 'अयं निजः परोवेति' की स्थिति को पारकर 'न ममेति न परस्येति' की निर्विशेषावस्था में पहुँचकर उपभोग-योग्य बन जाते हैं। हम निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि भट्टनायक ने ही सर्वप्रथम रस को विषयगत अथवा वस्तुगत नहीं मानकर विषयीगत माना।⁶

अभिव्यक्तिवादी⁷ अभिनवगुप्त ने भट्टनायक के इन दो नवीन व्यापारों-भावकत्व और भोजकत्वको अशास्त्रीय मानते हुए रस-निष्पत्ति को चर्चणा, 'अद्भुत भोग'⁸ के आनन्द अथवा व्यंजना के आश्रित माना। इन्होंने निष्पत्ति⁹ का अर्थ अभिव्यक्ति और संयोग का अर्थ 'व्यंग्य-व्यंजक-भाव'¹⁰ माना। इनके अनुसार रस की निष्पत्ति¹¹ सामाजिक में होती है, क्योंकि सामाजिकों में ही स्थायी भाव वासना या संस्कार रूप से स्थिर रहते हैं और विभावादि द्वारा 'व्यंग्य-व्यंजक-भाव' से उसी प्रकार अभिव्यक्ति

हो जाते हैं, जिस प्रकार शीकर-सिंचन से मिट्टी की पिहित गन्ध। सारांश यह कि अभिनवगुप्त भट्टनायक के भावकत्व और भोजकत्व को न मानकर व्यंजना और ध्वनि की सत्ता को स्वीकार करते हैं और यह मानते हैं कि रस की स्थिति सहृदय¹² की आत्मा यानी वासना-युक्त चित्त में ही है, काव्य उसकी अभिव्यक्ति-मात्र करता है।

इन पूर्वाचार्यों की खण्डन-मण्डनपूर्ण स्थापनाओं के उपरान्त हमें शुक्लजी के साधारणीकरण सम्बन्धी विचारों पर दृष्टिपात करना है। सर्वप्रथम इस सम्बन्ध में हमें यह कहना है कि उल्लिखित पूर्वाचार्यों में प्रत्येक आचार्य ने इस साहित्यशास्त्रीय प्रश्न पर किसी-न-किसी साहित्येतर दार्शनिक मतवाद का आग्रह लेकर प्रकाश डाला था। किन्तु, आचार्य शुक्ल ने साहित्य के मानों को अनाकुंचित रखते हुए अपनी वस्तुपरक दृष्टि से इस पर विचार किया। दूसरी बात यह है कि यद्यपि इनके काल में साहित्य का गद्य-युग प्रारम्भ हो चुका था, तथापि इन्होंने काव्य को ही दृष्टिगत रखते हुए साधारणीकरण पर अपनी स्थापनाएँ प्रस्तुत की हैं, हालाँकि इनका दृष्टि-विस्तार भरत के नाट्यधर्मी तत्त्वों एवं वाचिक अभिनय से बहुत आगे निकल चुका था। तीसरी बात यह है कि आचार्य शुक्ल रस-विवेचन में बहुधा प्रचलित 'रस का लोकोत्तरत्व या ब्रह्मानन्द-सहोदरत्व' जैसे भ्रामक शब्दों से पूर्णतया सचेत थे।¹³ वे इन तथ्यबोध-शून्य, भावव्यंजक, स्तुतिपरक शब्दों को समीक्षा-क्षेत्र का अर्थशून्य वागाडम्बर-मात्र मानते थे। उन्होंने इसी से मिलते-जुलते शाब्दिक अपव्यय की भ्रामक प्रवृत्ति के लिए ब्रैड्ले और डॉ. मकेल जैसे पाश्चात्य विद्वानों पर भी अपना आक्रोश प्रकट किया है। इस तरह हमारे समक्ष शुक्लजी आडम्बरशून्य, निर्भ्रान्त और वस्तुपरक दृष्टिकोण लेकर समुपस्थित होते हैं। चौथी बात यह है कि वे रसात्मकता की एक मध्यम कोटि¹⁴ भी मानते हैं, जो इनकी उपज्ञात या मौलिक उद्भावना है और यहाँ की शास्त्र-परम्परा से उसका अव्यवहित सम्बन्ध नहीं है। अतः उसका विस्तृत विवेचन एक प्रसंगान्तर होगा।

शुक्लजी लिखते हैं कि "जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यतः सबके उसी भाव का आलम्बन हो सके, तब तक उसमें रसोद्बोधन की पूर्ण शक्ति नहीं आती।इसी रूप में लाया जाना हमारे यहाँ साधारणीकरण कहलाता है।" शुक्लजी इसी सन्दर्भ में आगे लिखते हैं "साधारणीकरण का अभिप्राय यह है कि पाठक या श्रोता के मन¹⁵ में जो व्यक्ति-विशेष या वस्तु-विशेष आती है, वह जैसे काव्य में वर्णित आश्रय के भाव का आलम्बन होती है, वैसे ही सब सहृदय पाठकों या श्रोताओं के भाव का आलम्बन¹⁶ हो जाती है। इससे यह सिद्ध हुआ कि साधारणीकरण आलम्बनत्व धर्म का होता है।तात्पर्य यह कि आलम्बन रूप में प्रतिष्ठित व्यक्ति, समान प्रभाववाले कुछ धर्मों की प्रतिष्ठा के कारण सबके भावों का आलम्बन हो जाता है।" इस मन्तव्य से स्पष्ट संकेत मिलता है कि शुक्ल जी भट्टनायक के समीप पड़ते हैं, क्योंकि दोनों ही आलम्बन पर बल देते

हैं। अन्तर यह है कि आलम्बन के साधारणीकरण¹⁷ की प्रक्रिया में शुक्लजी रसोद्बोधन की शक्ति का ही उल्लेख कर रह जाते हैं और भट्टनायक भावकत्व और भोजकत्व का उल्लेख करते हैं। इस तरह ध्यानपूर्वक देखा जाए तो शुक्ल जी भट्टनायक के भोजकत्व से बहुत दूर नहीं पड़ते। "भोजकत्व में तमोगुण और रजोगुण का नाश होकर, जो दुःख और मोह के कारण होते हैं, शुद्ध सतोगुण का उद्रेक होने लगता है और चित्तवृत्तियों के शान्त हो जाने से वही आनन्द का कारण होता है।" शुक्लजी भी रसात्मक बोध के विविध रूपों का उल्लेख करते हुए कहते हैं "रस-दशा में अपनी पृथक सत्ता की भावना का परिहार हो जाता है। अर्थात् काव्य में प्रस्तुत विषय को हम अपने व्यक्तित्व से सम्बद्ध रूप में नहीं देखते, अपनी योग-क्षेम-वासना की उपाधि से ग्रस्त हृदय द्वारा ग्रहण नहीं करते बल्कि निर्विशेष, शुद्ध और मुक्त हृदय¹⁸ द्वारा ग्रहण¹⁹ करते हैं।" स्पष्टतया "सतोगुण का उद्रेक और शान्त चित्तवृत्ति" (भट्टनायक) तथा "निर्विशेष शुद्ध और मुक्त हृदय" (शुक्ल जी) में कोई तात्त्विक भेद नहीं दीख पड़ता।

दूसरी दृष्टि से यह भी स्पष्ट प्रकट होता है कि शुक्लजी साधारणीकरण में विशेष महत्त्व 'सप्रसादपदन्यास'²⁰ की क्षमता से सम्पन्न कारयित्री प्रतिभा को देते हैं, न कि भावयित्री प्रतिभा को; क्योंकि आलम्बन खड़ा करना कवि-कर्म के अन्तर्गत है। लेकिन शुक्लजी सामाजिक अथवा सहृदय²¹ पक्ष की पूर्ण उपेक्षा नहीं करते। जिस प्रकार सामाजिकों में रस की स्थिति माननेवाले आचार्य अभिनवगुप्त काव्य की मिट्टी से रस-रूपी गन्ध निकालने के लिए व्यंजना-रूपी जल के छींटे की आवश्यकता समझते हैं, उसी प्रकार शुक्लजी भी साधारणीकरण के लिए रसोद्बोधन की आवश्यकता महसूस करते हैं। साथ ही, सामाजिकों में रस की स्थिति को प्रकारान्तर से स्वीकृति देते हुए वे काव्य के आलम्बन में 'समान प्रभाववाले कुछ धर्मों की प्रतिष्ठा' का उल्लेख करते हैं। निस्सन्देह इस शब्दावली को लिखते समय उनकी दृष्टि में सामाजिकों का पक्ष है, उनकी अभिरुचि और संस्कार-संघात भी।

अब विश्लेषण का दूसरा कोण उपस्थित करते हुए डॉ. नगेन्द्र²² लिखते हैं "जिसे हम आलम्बन कहते हैं, वह वास्तव में कवि की अनुभूति का संवेद्य रूप है। उसके साधारणीकरण का अर्थ है कवि की अनुभूति का साधारणीकरण, जो भट्टनायक और अभिनव का प्रतिपाद्य है। अतएव निष्कर्ष यह निकला कि साधारणीकरण कवि की अपनी अनुभूति का होता है, अर्थात् जब कोई व्यक्ति अपनी अनुभूति को इस प्रकार अभिव्यक्त कर सकता है कि वह सभी के हृदयों में समान अनुभूति जगा सके तो पारिभाषिक शब्दावली में हम कह सकते हैं कि उसमें साधारणीकरण की शक्ति वर्तमान है।"

यहाँ स्पष्टतः दो बातें हमारी दृष्टि में आती हैं। प्रथम यह कि आलम्बन कवि की अनुभूति का संवेद्य रूप है। इस मान्यता को स्वीकार करने के पूर्व हमें भट्टनायक

और अभिनवगुप्त से शुक्लजी तक सभी आचार्यों के प्रति अवज्ञा-भावना लेकर प्रस्तुत होना पड़ेगा, क्योंकि भारत की अव्यक्तिगत काव्य-परम्परा कवि की वैयक्तिक अनुभूति को इतना अधिक महत्त्व देने की अनुमति नहीं दे सकती। यों, आज का साहित्य-चिन्तक काव्य में छिपे हुए कवि के व्यक्तित्व को उचित स्वीकृति देने में ननु-नच नहीं करेगा। लेकिन डॉ. नगेन्द्र की दूसरी बात आधुनिक युग के विचारकों के लिए भी खटकनेवाली है। वह यह कि उन्होंने कवि की अनुभूति को आवश्यकता से अधिक महत्त्व दे दिया है। डॉ. नगेन्द्र की बात को बिना किसी संशोधन के स्वीकृत करने के उपरान्त पाठक अथवा श्रोता के संस्कारों का कोई महत्त्व नहीं बच पाता। सम्भव है कि रुचि-संस्कारगत वैपरीत्य के कारण सामाजिक या सहृदय²³ कवि की अनुभूति के साथ अपनी अनुभूति का संवादी स्वर नहीं मिला सके। सारांश यह कि कवि की अनुभूति सत्य और प्रौढ़ हो; किन्तु, उसके पीछे कुन्तक की वैदग्ध्यभंगी भणिति अथवा शुक्लजी की रमणीयता का बल ही क्यों न हो, पर उसमें हृदय-संवाद की क्षमता के लिए उसके साधारणीकृत होने के लिए उसका 'सहृदय-श्लाघ्य' होना आवश्यक है तथा सामाजिकों की रुचि, संस्कार और अनुभूति के साथ उसका थोड़ा-सा सादृश्य अथवा समान संस्कार-प्रभावधर्मिता अनिवार्यरूपेण अपेक्षणीय है। दूसरी बात यह है कि डॉ. नगेन्द्र सामाजिक के हृदय में रस की सुप्त स्थिति मानते हुए भी यह कहते हैं कि कवि अपनी अनुभूति के साथ अपना रस भी सहृदय तक संक्रमित करता है। अब पुनः पुराना प्रश्न उठता है कि क्या रस प्रेषणीय है? कवि अपनी अनुभूतियों के माध्यम से पाठक में रसोद्बोधन करा सकता है, पर वह रस-प्रेषण नहीं कर सकता। रस-प्रेषण होने पर तो पाठक का सहृदय और दीक्षित होना आवश्यक नहीं, उसे मात्र ग्राहिकाशक्ति-सम्पन्न ही होना चाहिए। किन्तु, वस्तुस्थिति यह है कि रस-चर्चणा केवल कवि अथवा केवल पाठक पर निर्भर न रहकर दोनों की सहृदयता और संस्कार-संघातों के साथ सापेक्षिक सम्बन्ध रखती है, कवि-सहृदयाख्य होती है और क्रमशः इनके न्यूनाधिक्य एवं विरोध-अविरोध से सानुपातिक सम्बन्ध भी रखती है।

सारांश यह है कि डॉ. नगेन्द्र की 'अनुभूति' शुक्लजी के 'आलम्बन' से तत्त्वतः भिन्न कोई अन्य वस्तु नहीं है। दूसरी बात यह कि सामाजिक के इन्द्रिय-बोधों²⁴ और संस्कारों की भूमिका में (गोवलीवर्द न्याय²⁵ से ही सही, क्योंकि कवि भी सामाजिक की तरह मनुष्य है और उसके संस्कार सामाजिकों से औसतन सर्वथा भिन्न-विच्छिन्न नहीं हैं) कवि की अनुभूति का साधारणीकरण²⁶ होता है इस निष्कर्ष का पूर्व अंश (सामाजिक के संस्कार-संघात) डॉ. नगेन्द्र की विवेचना में छूट जाता है, जिसकी रक्षा शुक्लजी 'समान प्रभाववाले कुछ धर्मों की प्रतिष्ठा' के निर्देश द्वारा कर लेते हैं।

सन्दर्भ

1. मातृगुप्त, उद्भट, लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक, हर्ष, कीर्तिधर, भट्टतौत, अभिनवगुप्त, नान्यदेव और शार्ङ्गदेव। द्रष्टव्य: History of Sanskrit Poetics by Dr. S.K. De, Firma K.L. Mukhopadhyay, Calcutta, 1960, Pages 18-42.
2. विगत दशकों में साधारणीकरण और रस-सिद्धान्त पर सौन्दर्यशास्त्रीय (कलाशास्त्रीय) दृष्टि से भी हिन्दी के कई आलोचकों ने विचार किया है। द्रष्टव्य : (क) मध्ययुगीन रस-दर्शन और समकालीन सौन्दर्य-बोध, डॉ. रमेश कुन्तल मेघ, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 1969. (ख) साधारणीकरण और सौन्दर्यानुभूति के प्रमुख सिद्धान्त, डॉ. प्रेमकान्त टण्डन, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1983. (ग) रस-सिद्धान्त और सौन्दर्यशास्त्र, डॉ. निर्मला जैन, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1967.
3. Stimmung.
4. Geschmack.
5. Aesthetic relish.
6. रस-निष्पत्ति (साधारणीकरण) से सम्बन्धित भट्टनायक के विचारों के लिए द्रष्टव्य: काव्यशास्त्र और काव्य, लेखक: राधावल्लभ त्रिपाठी, मैकमिलन इण्डिया लिमिटेड, दिल्ली, 1982, 'भट्टनायक और साधारणीकरण' शीर्षक अध्याय; पृष्ठ 90-95.
7. अभिव्यक्तिवादी अभिनवगुप्त के विचारों की दार्शनिक पृष्ठभूमि की विस्तृत विवेचना के लिए द्रष्टव्य: *Abhinava Gupta : An Historical and Philosophical Study* by Dr. K.C. Pandey, Chowkhamba, Varanasi, 1963.
8. Sanskrit Criticism by V.K. Chari, MLBD, Delhi, 1993, Page 26.
9. 'निष्पत्ति' और 'संयोग' की सुबोध व्याख्या के लिए द्रष्टव्य: रस-सिद्धान्त की दार्शनिक और नैतिक व्याख्या, डॉ. तारकनाथ बाली, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा, 1964, पृष्ठ 31-32.
10. 'भाव' शब्द के मराठी अर्थ-संकोच पर डी. के. बेडेकर ने विचार किया है। द्रष्टव्य: आलोचना (अप्रैल, 1952), सम्पादक, शिवदान सिंह चौहान, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ 65-67.
11. *Abhinavagupta* by G.T. Deshpande, Sahitya Akademi, New Delhi, 1992, Pages 87-96.
12. "येषां काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद्विशदीभूत मनोमुकुरे वर्णनीयतन्मयीभवन-योग्यता ते स्वहृदय संवाद भाजः सहृदयाः यथोक्तम्
योऽर्थो हृदयसंवादी तस्य भावो रसोद्भवः।
शरीरं व्याप्यते तेन शुष्कं काष्ठमिवाग्निना ॥ अभिनवगुप्त
ध्वन्यालोकलोचन, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली।
13. शुक्लजी के समकालीन और परवर्ती आलोचकों में लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु' भी 'सगुण रसवादी' थे। वे 'योग-धारणा' के अनुसार 'सगुण रसवाद' की व्याख्या के आग्रही थे। 'योग' से उनका आशय 'सम्बन्ध' या 'मिलन' से था। अर्थात्, काव्य में वर्णित

- आश्रय-आलम्बन के साथ 'मिलन' या 'सम्बन्ध' स्थापित करने के बाद ही सहृदय को रस की प्राप्ति होती है। इस तरह सुधांशु जी ने सत्वोद्रेक को रस माननेवाली मान्यता का पुनराख्यान करते हुए रसानुभूति का सम्बन्ध सविकल्प समाधि के साथ माना था। कारण, रसानुभूति के लिए 'अवलम्ब' (आलम्बन : 'ऑब्जेक्टिव को-रिलेटिव') की आवश्यकता होती है और सविकल्प समाधि ही सावलम्ब होती है। निर्विकल्प समाधि तो निरवलम्ब होती है। भले ही, उसमें ब्रह्मानन्द या ब्रह्मानन्द-सहोदरत्व हो; किन्तु, वह उन सभी सामान्य जनों के लिए सुलभ नहीं है, जो साधारणतः काव्य का पठन-पाठन किया करते हैं। अतः सुधांशु जी एक अतन्द्र और बहुश्रुत सगुण रसवादी की तरह भाव-देह या लिंग शरीर के आधार पर, चरक-सुश्रुतादि आयुर्वेदाचार्यों के मतों का सहारा लेते हुए, रसानुभूति और रस-सिद्धान्त की सगुण दैहिक व्याख्या करने के पक्षधर थे।
14. इस सन्दर्भ में द्रष्टव्य: *Bhoja's Shringar Prakash* by Dr. V. Raghavan, Punarvasu, Madras, 1963, Pages 434-37, 528-31.
 15. रस के मनोवैज्ञानिक पक्ष के अध्ययन के लिए द्रष्टव्य: *Psychological Studies in Rasa* by Dr. Rakesh Gupta, Aligarh, 1950.
 16. तंत्रशास्त्रीय दृष्टि से निरूपित 'हृदय' की परिभाषा: सा स्फुरत्ता महासत्ता देशकाल विशेषिणी।
सेषा सारतया प्रोक्ता हृदयं परमेष्ठिनः ॥
 17. आलम्बन के साधारणीकरण और आलम्बनत्व-धर्म की विवेचना के लिए द्रष्टव्य:
 - (क) रस-सिद्धान्त : स्वरूप-विश्लेषण, डॉ. आनन्द प्रकाश दीक्षित, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1960, पृष्ठ 129-30.
 - (ख) साधारणीकरण, लेखक : डॉ. रामलखन शुक्ल
 - (ग) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, सम्पादक : तिवारी और लूथरा, प्रकाशन विभाग, भारत सरकार, दिल्ली, 1985 में संकलित डॉ. राम प्रकाश का 'साधारणीकरण सिद्धान्त और आचार्य शुक्ल' शीर्षक निबन्ध, पृष्ठ 42-51.
 18. शुक्लजी के इस कथन पर टी. एस. इलियट द्वारा विवेचित 'Objective co-relative' के सन्दर्भ में भी विचार किया जा सकता है।
 19. काव्यास्वाद या कलास्वाद के प्रसंग में इस बहुचर्चित ग्रहण-तत्त्व, ग्राहिका शक्ति या सहृदय और ग्रहीता की ग्रहणशीलता पर पाश्चात्य आलोचना तथा कलाशास्त्र में इन दिनों मुख्यतः 'Rezeptionsasthetik' के अन्तर्गत विचार किया जा रहा है। विस्तार के लिए द्रष्टव्य: *Theories of Literature in the Twentieth Century* by Douwe Fokkema & Elrud Ibsch, Orient Longman, Hyderabad, 1997, Page 136.
 20. 'सप्रसाद पदन्यासः ससंवादार्थ संगतिः'कविकण्ठाभरण, महाकवि क्षेमेन्द्र, सम्पादक : प्रा. वामन केशव लेले, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1967, पृष्ठ 72.
 21. विस्तार के लिए द्रष्टव्य: सहृदय, लेखक, विद्यानिवास मिश्र, साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली, 1994.
 22. डॉ. नगेन्द्र शुक्लोत्तर हिन्दी आलोचना के प्रमुख रसवादी आचार्य हैं, जिनकी प्रसिद्ध पुस्तक है, "रस-सिद्धान्त"। (इस पुस्तक का बांग्ला अनुवाद डॉ. इन्द्रनाथ चौधुरी ने

किया है, जो भारती भवन, पटना से प्रकाशित है।) रस-सिद्धान्त, डॉ. नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1964.

23. कवि तो 'सहृदय' होता ही है, रस-सिद्धान्त और साधारणीकरण के प्रसंग में 'ग्राहक' (पाठक सामाजिक, दर्शक, श्रोता) को भी 'सहृदय' कहा गया है तथा 'सहृदय' को मुख्यतः 'ग्राहक' के अर्थ में ही लिया गया है। नाट्यशास्त्र में 'सहृदय' के लिए 'सुमनस् प्रेक्षक' का भी प्रयोग मिलता है। कई विद्वानों का अभिमत है कि 'सहृदय' शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम 'अथर्ववेद' में किया गया है। कहते हैं, भरत मुनि ने 'रस' शब्द को भी 'अथर्ववेद' से ही लिया था। सहृदयता की विशेषताएँ त्रिपक्षीय हैचिन्ति-पक्ष की दृष्टि से 'स्वहृदय-संवाद भाजकता', चेत्य पक्ष की दृष्टि से 'वर्णनीय तन्मयीभवन योग्यता' और चित्त पक्ष की दृष्टि से 'तादात्म्य समापत्तियोग्यता'। संक्षेप में तन्मयीभवन की योग्यता और समान सहृदयता ही सहृदयता है। तन्मयीभवन से रसानुभूति की प्राप्ति पर प्रो. जोसेफ मुण्डशेरी के विचार भी पठनीय हैं। द्रष्टव्य: काव्यपीठिका, लेखक : प्रो. जोसेफ मुण्डशेरी, अनुवादक : रामचन्द्र देव, राधाकृष्ण प्रकाशन, 1973, पृष्ठ 28-29.
24. विस्तार के लिए द्रष्टव्य: *The Senses* by Otto Lowenstein, Penguin Books, Middlesex (England), 1966, Pages 12-16, 198-202.
25. "गामनाय वलीवर्द चानय इत्यत्र गोपेदेनेव वलीवर्दबोधसिद्धौ वलीवर्दपदं दुर्म्यत्वज्ञापन परत्वेन सफलमिति।"न्यायोक्तिकोशः, अजन्ता पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 1978, पृष्ठ 38.
26. "साधारणीकरण का अर्थ है असाधारण का साधारण या विशेष का निर्विशेष हो जाना। ...रसानुभूति या सौन्दर्यानुभूति से इसका गहरा सम्बन्ध है।" द्रष्टव्य: आधुनिक हिन्दी आलोचना के बीज शब्द, लेखक, बच्चन सिंह, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1994, पृष्ठ 132-134.

पुस्तक समीक्षा

प्रकाशक अपने सद्यः प्रकाशित पुस्तकों की
2 प्रतियाँ 'चिन्तन-सृजन' में समीक्षा के लिए
भेज सकते हैं।

प्रकाशक

अपने सृजन से गुज़रते हुए

नरेन्द्र कोहली*

स्वामी विवेकानन्द के जीवन की घटनाओं पर आधृत उपन्यास 'तोड़ो कारा तोड़ो' में बहुत सारी सीमाओं में बंधकर मौलिक सृजन हुआ है। स्वामी जी निकट अतीत के पात्र हैं; और उनके विषय में प्रायः सारे लिखित प्रमाण उपलब्ध हैं। कल्पना का अवकाश न होने पर, उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर ही मुझे मौलिकता उत्पन्न करनी थी। ऐसे में एक आधिकारिक जीवनकथा को उपन्यास के रूप में ढालने की चुनौती से जूझना पड़ा। मैं ऐसी किसी घटना की कल्पना अथवा रचना नहीं कर सकता था, जो स्वामी जी के जीवन में घटित ही न हुई हो।

जन्म, मृत्यु, धर्म आदि से सम्बन्धित प्रश्न प्रत्येक युग में उठते हैं : जीवन क्या है? मृत्यु क्या है? ईश्वर क्या है? धर्म का वास्तविक रूप क्या है?...ये सारे प्रश्न किसी काल विशेष अथवा समकालीनता तक सीमित न होकर जीवन को उसकी सार्वकालिकता में जाँचते-परखते हैं। ये शाश्वत प्रश्न हैं। जीवन के वास्तविक रूप, धर्म और सत्य सम्बन्धी, इन प्रश्नों को समय-समय पर उठाया गया है। कभी राम, कृष्ण या युधिष्ठिर के माध्यम से कभी बुद्ध, शंकर, अरविन्द, रामानुजाचार्य अथवा दयानन्द सरस्वती के माध्यम से।...ऐसे में प्रायः मुझसे प्रश्न किया जाता है कि उपन्यास लिखने के लिए मैंने स्वामी विवेकानन्द के चरित्र को ही क्यों चुना?

यह प्रश्न किसी भी कथानायक के विषय में पूछा जा सकता है। मैं किसी अन्य प्रख्यात पात्र को नायक बनाकर उपन्यास लिखता, तो भी यह प्रश्न पूछा जाता। मैं अपने मन को टटोलता हूँ कि मैंने इन्हीं चरित्रों को क्यों चुना, तो पाता हूँ कि लेखक के अपने मन में...प्रत्यक्ष ही या प्रच्छन्न...कुछ विशिष्ट चरित्रों के विषय में आत्मीयता, स्नेह और निकटता के भाव होते हैं। इसका आधार कदाचित् कुछ सिद्धान्तों को लेकर होता है। पर वे सिद्धान्त भी तो कहीं अपने स्वभाव, अपनी प्रकृति से सम्बन्धित होते हैं। अपने आदर्शों के उन्नायक चरित्र लेखक को अधिक प्रिय होते हैं। सबकी अपनी रुचियाँ हैं। अपनी रुचि के पात्र, अपने प्रीतिकर पात्र का ध्यान आते ही लेखक न केवल उसकी ओर आकृष्ट होता है, वरन् उस पर मनन भी करता है। जब वह मनन

* नरेन्द्र कोहली, हिन्दी के जाने माने साहित्यकार हैं।

फलीभूत होता है, तो स्वतः ही सृजन होने लगता है। वह चरित्र और उससे सम्बन्धित घटनाएँ, जीवंत होने लगती हैं। उन सूक्ष्म घटनाओं पर, जैसे हाड़ मांस उग आता है; और वे स्थूल रूप में भी लेखक के मन में आकार लेने लगती हैं।

मेरे मन में किसी समय यह शंका भी थी कि एक संन्यासी के जीवन पर आधृत उपन्यास पाठक के लिए तनिक भी आकर्षक हो सकेगा क्या?...संन्यासी के जीवन में योग होगा, ध्यान होगा, तपस्या होगी, साधना होगी, भ्रमण होगा, उपदेश होंगे। इससे अधिक क्या होगा? किन्तु यह शंका तभी तक थी, जब तक मैं स्वामी विवेकानन्द के जीवन के विषय में कुछ विशेष जानता नहीं था। वैसे तो साधना और तपस्या भी एक आकर्षक आध्यात्मिक यात्रा है।...किन्तु स्वामी जी के जीवन में और भी बहुत कुछ है : अपने व्यक्तिगत विकास के लिए इच्छा, एक लक्ष्य-ईश्वर-तक पहुँचने की उत्कंठा तथा प्रयत्न, सामाजिक समस्याओं, सांसारिक बंधनों, देश के प्रश्नों, अध्यात्म की जटिलताओं, राजनीति से उद्भूत देश और समाज के लिए कठिनाइयों के विषय में चिन्तन, संवाद और तर्क; और अन्त में उन सबका समाधान। यह सब उनके जीवन में है। इसके पश्चात् भ्रमण है। इतना वैविध्य है, उनके जीवन में। इतने प्रकार के लोगों से मिलना, उनकी समस्याओं पर विचार करना। एक व्यक्ति नहीं, वहाँ तो जैसे एक पूरा समाज है, जो संघर्षरत है। बंधनों को पहचानने के लिए और उन बंधनों को तोड़ने का प्रयास करने के लिए, उनसे मुक्ति पाने के लिए, उनसे जूझने के लिए। संन्यासी की एक परम्परागत शुष्क और नीरस छवि है; किन्तु नीरसता और शुष्कता का, संसार से विमुख एक निष्क्रिय जीवन का स्वामी जी के जीवन से कहीं कोई मेल नहीं है।

'तोड़ो कारा तोड़ो' में उन्हीं प्रसंगों का समावेश हुआ है, जो स्वामी जी की विभिन्न प्रामाणिक जीवनीयों में उपलब्ध हैं। कल्पना से उसे आकर्षक बनाने या उनमें कुछ और नया जोड़ने का प्रयत्न नहीं किया जा सकता। उससे ऐतिहासिकता खंडित होती है। स्वामी जी के शिष्य सावधान हैं। उपन्यासकार द्वारा की गई कल्पना के सन्दर्भ में, रामकृष्ण मठ, विवेकानन्द केन्द्र या इस प्रकार की संस्थाओं की ओर से प्रश्न किया जा सकता है कि उपन्यासकार के पास क्या प्रमाण है कि ऐसा ही हुआ था? या ऐसा नहीं हुआ था? दूसरी ओर सब कुछ प्रामाणिक रूप से उपलब्ध होने का एक ही लाभ है कि आप उस जीवन के विषय में सब कुछ जानते हैं, तो उसके साथ तादात्म्य करके, उसको और अधिक तर्कसम्मत, प्रामाणिक तथा स्वाभाविक रूप से चित्रित कर सकते हैं। जीवनी हमको सूचनाएँ देती है। उपन्यासकार उन सूचनाओं को, सुने हुए को, पढ़े हुए को, अपने मनन से सजीव रूप में देखता है; और जब अपने देखे हुए का चित्रण करता है तो निश्चित रूप से वे केवल सूचनाएँ मात्र नहीं रह जातीं। जो पहले से ज्ञात है, उसे विकृत अथवा परिवर्तित किए बिना, उसकी सीमाओं के भीतर ही उपन्यासकार मौलिकता उत्पन्न करता है। यहीं कलाकार की प्रतिभा और

कला की परीक्षा होती है। नया कुछ नहीं जोड़ना है, पुनरावृत्ति भी नहीं करनी है, जो कुछ पहले से उपलब्ध है, उसे ही मौलिक रूप में प्रस्तुत करना है। जितने भी जीवनीपरक उपन्यास लिखे जाते हैं, उन सबके सामने यह चुनौती वर्तमान होती है। जीवनीकार अपने नायक से सम्बन्धित सूचनाओं को क्रम से संजोकर कह देता है। बाह्य जीवन में जो घटनाएँ घटित हो रही हैं, जो कर्म स्पष्ट हैं, वे लिखे जाते हैं; किन्तु नायक के मन में क्या है, यह जानने का प्रयत्न जीवनीकार नहीं करता। नायक ने यदि अपने मन की बात किसी से कही है, या उसका कोई प्रमाण उपलब्ध है, तो जीवनीकार उसको ग्रहण करेगा, अन्यथा वह उसकी कल्पना नहीं करेगा। उपन्यासकार पहले यह सोचेगा कि नायक के मन में क्या है? उपन्यासकार उस चरित्र को समग्रता में ग्रहण करता है। बाहर भीतर, मन और कर्म-सब कुछ देखता है। मन की बातआभ्यन्तरिक जीवन की कल्पना तो उपन्यासकार ही करेगा। बाहरी क्रियाकलाप को तर्कसंगत ढंग से जोड़ना ही है, तो निश्चित रूप से यह भी सोचना होगा कि उस समय नायक के मन में क्या था। नायक के कर्म का कारण, उसका लक्ष्य, उसका उद्देश्य, उसकी प्रासंगिकतासबको उनकी पूर्णता में चित्रित करना होगा। यह उपन्यास लिखते हुए, मैंने पाया कि बहुत सारी बातों पर जीवनीकार का ध्यान ही नहीं जाता।...स्वामी विवेकानन्द की बहनों को कैसी और कितनी शिक्षा मिली? उनका विवाह कब हुआ? अपने मायके से वे कब अपने ससुराल चली गईं? स्वामी जी के पिता के देहान्त के पश्चात्, भाई बहनों का दायित्व, स्वामी जी पर आ पड़ा। लेकिन तब उस घर में कितने भाई बहन थे? और फिर हम देखते हैं कि वहाँ केवल भाई ही हैं, बहनें हैं ही नहीं। तो बहनों के विवाह कब हुए? उनकी जिस बहन ने अपने ससुराल में आत्महत्या कर ली थी, वह कौन थी? उसका नाम क्या था? उसने आत्महत्या क्यों की? यह सब खोजना पड़ता है। स्वामी जी एक खोह या गुफा जैसे कमरे में रह रहे हैं, उस स्थान को 'तंग' की संज्ञा दी गई है। प्रश्न उठता है कि इतने तंग से कमरे में रहने को वे क्यों बाध्य थे, जबकि उनका अपना घर राजसी प्रसाद के सामन था? विश्वनाथ के देहान्त के पश्चात् अकस्मात् ही वे लोग इतने निर्धन क्यों हो गए? उसका कुछ तो कारण होगा। विश्वनाथ के पास इतना धन था, उनका देहान्त हो गया तो कुछ भी नहीं बचा? उपन्यासकार की दृष्टि से कथानक को ठीक बैठाने के लिए, या कथानक के निर्माण के लिए, जब ये प्रश्न मेरे मन में उठे, और उन प्रश्नों के विषय में मैंने सोचा, तो उन्हीं जीवनीयों में इधर-उधर से कहीं बहुत छोटे-छोटे संकेत उपलब्ध होते गए। ज्ञात हुआ कि विश्वनाथ मुक्तहस्त व्यय करते थे। जिस समय वे रायपुर में थे, उनके अपने सहयोगी ने रुपये पैसों की गड़बड़ की थी। फर्म के नाम पर ऋण लेकर चुकाया नहीं था। वह ऋण विश्वनाथ के कंधों पर आ पड़ा था। उनके चाचा-चाची तथा उनका परिवारस्वामी विवेकानन्द तथा उनके परिवार का विरोधी था। उनको उनके भाग का एक पैसा तक देना नहीं चाहता था। ऐसे में

उन्हें भवन तथा सम्पत्ति में से उनका अंश कैसे मिलता। ध्यातव्य है कि भुवनेश्वरी देवी, नरेन्द्र से उन लोगों की चर्चा करते हुए, 'तुम्हारे पिता के सम्बन्धी' शब्दों का प्रयोग करती हैं।

मैं यह नहीं कहता कि जीवनीयों में इन तथ्यों के संकेत नहीं हैं। न होते, तो मुझे वे कहाँ से मिलते। वहाँ या तो इन बातों की चर्चा नहीं है, या फिर इतने नगण्य रूप में हुई है कि वे उभर कर सामने नहीं आते और पूरा चित्र नहीं बनता। कोई पाठक सपाट ढंग से जीवनी पढ़ जाए और इन प्रश्नों के विषय में गम्भीरता से न सोचे, तो उसे आभास भी नहीं होगा कि यह सब हुआ था। उस जीवन तथा उसके आसपास के समाज को, समग्रता से देखने के लिए, उपन्यासकार, कथानक के रूप में, बहुत सारे उपकरणों को जोड़ता है। जहाँ अन्तराल हैं, जहाँ अवकाश हैं, जहाँ कुछ छूट गया हैउन सबकी कल्पना करता है। और उन सबको सजीव रूप में अनुभव कर चित्रित करता है। परिणामस्वरूप कृति उपन्यास का रूप धारण करती है। जीवनी से पर्याप्त भिन्न और आकर्षक भी बन पाती है।

इस उपन्यास में रामकृष्ण परमहंस का चरित्र भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है, जितना स्वयं स्वामी विवेकानन्द का; क्योंकि उन्हीं के माध्यम से स्वामी जी के जीवन का लक्ष्य निर्धारित होता है। रामकृष्ण परमहंस का प्रवेश उपन्यास में तब करवाया है, जब वे समाधि की सारी अवस्थाएँ पार कर सर्वसिद्ध हो चुके थे। उनकी साधना से सिद्धि तक के मध्य की अवधि के संघर्ष को मैंने उपन्यास में चित्रित नहीं किया है। यदि मैं इस उपन्यास में रामकृष्ण परमहंस को उनके जन्म अथवा शैशवावस्था से लेता, उनकी साधना का चित्रण करता, तो यह उपन्यास स्वामी विवेकानन्द के विषय में न होकर, रामकृष्ण परमहंस के विषय में होता। उनकी साधना को केन्द्र में रखकर जो कृति रची जाएगी, उसमें स्वामी विवेकानन्द, ठाकुर के शिष्य मात्र के रूप में, उनकी परम्परा के वाहक का ही काम करेंगे; और उनका महत्व भी उसी रूप में होगा। भगिनी निवेदिता को नायिका बनाकर उपन्यास लिखना हो, और कृति को स्वामी विवेकानन्द के जन्म अथवा उनकी साधना से आरम्भ करें, तो उसमें भगिनी निवेदिता किसी भी प्रकार उस कृति की नायिका नहीं बन पाएँगी। अतः उपन्यास में रामकृष्ण परमहंस का वहीं प्रवेश कराया गया है, जहाँ नरेन्द्रनाथ दत्त के जीवन में उनका प्रवेश हुआ था। तब तक वे पूर्णतः सिद्ध पुरुष हो चुके थे।

उपन्यास में नरेन्द्र अपने भीतर आध्यात्मिक रहस्यों का अनुभव करता है, जबकि आज के भौतिकवादी संसार में बौद्धिकता और तर्कशीलता के बाहुल्य के कारण, ईश्वर के अस्तित्व तक पर प्रश्नहि लगा हुआ है। ऐसे में बार-बार यह कहा जाता है कि क्या पाठक इस अध्यात्म को स्वीकार कर पाएगा? इससे ऐसा लगता है कि जैसे ईश्वर कोई अबौद्धिक अवधारणा हो, कोई तर्कशून्य बात हो।...किसी भी देश में दो प्रकार के लोग सदा से रहे हैं...एक वे ईश्वर को मानकर चले हैं, जिन्होंने ईश्वर

को खोजने का प्रयत्न किया है, ईश्वर को देखा है, पाया है, ईश्वर का अनुभव किया है; उसके अस्तित्व की कोई ऐसी अस्पष्ट अबूझ अनुभूति पाई है कि वे उसे प्रत्यक्ष देखने के लिए तड़पते रहे हैं। दूसरी ओर वे लोग हैं, जिन्हें ईश्वर की अनुभूति नहीं हुई, ईश्वर की आवश्यकता का अनुभव नहीं हुआ, ईश्वर के विषय में कोई जिज्ञासा नहीं जगी, उनको उसका कोई प्रमाण नहीं मिला। कुछ ने तो उनकी ओर ध्यान ही नहीं दिया, और कुछ ने यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया कि ईश्वर जैसा कोई अस्तित्व ही नहीं है।...

यह केवल आज की ही बात नहीं है। सदा से संसार ऐसा ही रहा है। हमारा जो प्राचीनतम साहित्य उपलब्ध होता है, उसमें भी आसुरी और दैवी बुद्धि, आसुरी और दैवी सम्पदा, आसुरी और दैवी दृष्टिकोणदोनों ही सामने आते हैं। दैवी दृष्टिकोण यह मानता है कि ईश्वर की निश्चित सत्ता है, जो परम शासक है; और उसके नियंत्रण और शासन में ही यह संसार चल रहा है। आसुरी बुद्धि का यह प्रयत्न रहा है कि जितना उसको अपनी ज्ञानेन्द्रियों से समझ में आता है, प्रत्यक्ष होता है, उसी को सत्य माने; जैसे मनुष्य की बुद्धि ही सृष्टि की चरम सीमा हो, उसके परे कुछ ही नहीं।

अब प्रश्न यह है कि क्या पाठक इस आध्यात्मिकता को स्वीकार करेगा? नहीं करेगा तो आध्यात्मिक उपन्यास लिखने का क्या प्रयोजन? प्रश्न यह भी है कि क्या संसार का प्रत्येक व्यक्ति, उपन्यास पढ़ता है? ऐसा नहीं है। अपनी-अपनी रुचि है, अपना-अपना स्वभाव है, अपनी-अपनी प्रकृति है। जो लोग साहित्य पढ़ते हैं, उनमें से कुछ कविता पढ़ते हैं, कुछ उपन्यास पढ़ते हैं, कुछ नाटक पढ़ते और देखते हैं, कुछ लोग दर्शन अथवा शास्त्र को पढ़ते हैं। उपन्यास के पाठकों में भी दोनों प्रकार के लोग होंगे। जिनकी ईश्वर के विषय में जिज्ञासा होगी, रुचि होगी, ईश्वर के साथ तादात्म्य हो सकेगावे उसे पढ़ेंगे। संसार का कोई भी ग्रन्थ ऐसा नहीं है, जिसको हर प्रकार का व्यक्ति पढ़ता हो। यह अपेक्षा तो है ही नहीं कि प्रत्येक व्यक्ति इसे पढ़ते। जो पाठक इस विषय से, इस नायक से, इस चिंतन से तादात्म्य कर सकेंगे, वे ही इसे पढ़ेंगे। उनके भीतर कहीं अध्यात्म होगा, तभी वे इससे तादात्म्य कर पाएँगे। हर कृति अपने पाठक ढूँढ लेती है, और हर पाठक अपनी रुचि के अनुसार अपनी कृति ढूँढ लेता है। इस कृति के साथ भी यही होगा।

वैज्ञानिक युग वाली बात भी लगभग बौद्धिक युग के समकक्ष ही है। मानव सभ्यता के विकास के इतिहास को देखा जाए, तो प्रत्येक युग भौतिक सच्चाइयों को जानने का प्रयत्न करता रहा है, जिसको हम वैज्ञानिक विकास कहते हैं चाहे उसकी गति जो भी रही हो। एक ओर उसने उन पशुओं को ढूँढा, जिनकी पीठ पर बैठकर वह यात्रा कर सकता था, या फिर पहिए का निर्माण किया, जिससे गाड़ी बनाई जा सके और उसकी गति तीव्र हो सके। दूसरी ओर प्रकृति के सूक्ष्म नियमों और रहस्यों

को जानने का प्रयत्न किया गया। सूर्यग्रहण, चन्द्रग्रहणसारा का सारा खगोल या नक्षत्रों की गतिविधि को जानने का प्रयत्न हुआ। क्या वे सारे युग वैज्ञानिक नहीं थे? उस युग में उन्होंने अपने ज्ञान को बढ़ाने का और सृष्टि के विषय में जानने का जो कुछ प्रयत्न किया, वह विज्ञान ही था।

कुछ लोगों ने आत्मा और परमात्मा के विषय में जानने का प्रयत्न किया, जीवन और मृत्यु का परिचय प्राप्त करना चाहा। क्या नश्वर है, क्या अनश्वर है इसका पता लगाने का प्रयत्न किया। ज्ञान कुछ भौतिक प्रयोगों से प्राप्त होता है; और कुछ हमारे देश की विशेष पद्धतिध्यान के माध्यम से। ध्यान में चिन्तन से परे अपने भीतर जा कर, अन्ततः समाधि में पहुँचकर, उसने इन्द्रियातीत अनुभूतियों से इसको जाना। आज के युग में ऐसी कोई विलक्षणता नहीं है कि अध्यात्म, धर्म या ईश्वर की बात न की जा सके। संसार और अध्यात्मदोनों समानान्तर धाराएँ हैं। अध्यात्म भी पूर्णतः विज्ञानसंगत क्षेत्र है। अन्तर इतना ही है कि उसका ज्ञान किसी भौतिक प्रयोगशाला में उस प्रकार से प्रत्यक्ष नहीं होता, जैसे भौतिक विज्ञानों का होता है। किन्तु उसकी अपनी प्रयोगशाला है मनुष्य का मन और शरीर। साधना के अपने सोपान हैं। व्यक्ति अपने गुरु अथवा स्वयं से अधिक अनुभवी व्यक्ति से क्रमशः सीखता है; और अपने ऊपर उस ज्ञान का प्रयोग कर, अपना विकास करता है। स्वामी विवेकानन्द ने कहा था...जो कुछ मैं कहता हूँ, उसका अभ्यास करो, और जो निष्कर्ष तुम्हारे सामने आए, उसे सत्य मानो। मेरे निष्कर्षों को सत्य मत मानो, अपने प्रयोगों से पाए हुए ज्ञान को ही सत्य मानो।

अपने शरीर और मन के साथ प्रयोग करने के पश्चात् जो अनुभव व्यक्ति को होता है, उसे वह सत्य मानेगा यह पूर्णतः वैज्ञानिक बात है। मैं इसे तनिक भी अवैज्ञानिक नहीं मानता। हाँ, जब धर्म के नाम पर, यह कहा जाए कि प्रश्न मत पूछो, प्रयोग मत करो, मतभेद मत करो किसी नए ढंग से मत सोचो तो यह दृष्टिकोण अवैज्ञानिक हो सकता है; किन्तु यह धर्म नहीं है। उपनिषदों की पूरी परम्परा यही है कि जिज्ञासा करो, तर्क करो। स्वामी विवेकानन्द अपने गुरु रामकृष्ण परमहंस के पास छह वर्षों तक जाते रहे। छह वर्ष निरंतर तर्क करते रहे, बहस करते रहे, विवाद करते रहे। गुरु के निर्देशानुसार कुछ पढ़ा भी, कुछ नहीं भी पढ़ा; कुछ माना भी, कुछ नहीं भी माना। प्रयोग करते रहे और अन्ततः जब गुरु की मान्यताओं को अपने मन, शरीर, बुद्धि, साधना और तर्क से प्रमाणित कर लिया, तब स्वीकार किया और पूर्णतः स्वीकार किया। इसीलिए धर्म भी पूर्णतः वैज्ञानिक क्षेत्र है।

‘तोड़ो कारा तोड़ो’ में अनेक चामत्कारिक घटनाओं को मैंने आध्यात्मिक तर्क से सिद्ध किया है, जबकि अपने ही अन्य पौराणिक उपन्यासों ‘अभ्युदय’ (रामकथा) और ‘महासमर’ (महाभारत कथा) आदि में मैंने अविश्वसनीय चामत्कारिक घटनाओं का वैज्ञानिक ढंग से समाहार किया है।...इस प्रकार ‘तोड़ो कारा तोड़ो’ तक आते आते

मेरे दृष्टिकोण में कुछ अन्तर आया है। इस अन्तर को दो तीन धरातलों पर देखना पड़ेगा। पहली बात तो यह है कि रामायण और महाभारत की कथाएँ, इतनी प्राचीन हैं कि उनकी स्वाभाविक प्राकृतिक घटनाएँ भी क्रमशः चमत्कारों में बदलती चली गई हैं। अतः यह आवश्यक हो जाता है कि उन चरित्रों के जीवन को (जिन्हें हमारा साधारण जन किसी और लोक का जीवन मान बैठा है) सामान्य हाड़ मांस के जीवन के रूप में, साकार और जीवन्त किया जाए। उनके जीवन का स्वाभाविक प्राकृतिक रंग जैसे छूट गया था; और केवल असाधारण, चामत्कारिक तथा अलौकिक घटनाएँ ही अपना आधिपत्य जमा बैठी थीं। पति-पत्नी का सम्बन्ध, पिता-पुत्र का सम्बन्ध, भाइयों का सम्बन्ध, या साधारण मनुष्य के रूप में प्रेम, स्नेह, घृणा, विरोध, द्वेष आदि भावनाएँ, जैसे विलीन हो गई थीं। उन चरित्रों को स्वाभाविक जीवन के निकट लाने के लिए आवश्यक था कि उनके चरित्र पर से चमत्कार का पर्दा जरा-सा हटा दिया जाए। उन पर पड़ी रेणु को झाड़ा जाए, समय की परत को छीला जाए; और सामान्य मनुष्य के मनोविज्ञान तथा प्रकृति के नियमों के अधीन, जो स्वाभाविक चरित्र होना चाहिए, उसको प्रस्तुत किया जाए।

हम 'चमत्कार', 'असाधारण' तथा 'अलौकिक' शब्दों का भी विश्लेषण कर लें। जो घटना सामान्यतः घटित हो नहीं सकती, उसे कार्य-कारण के नियम से मुक्त कर, इस प्रकार घटित होते दिखा दिया जाए कि सुननेवाला, देखनेवाला या पढ़ने वाला दंग रह जाए वह चमत्कार है। दूसरी ओर जो लौकिक नहीं है, साधारण मनुष्य के समान नहीं है, अलौकिक है, आध्यात्मिक है, उसका मन, चिन्तन, कर्म भी लौकिक लोगों से भिन्न होता है। अतः वह चरित्र भी असाधारण होता है। एक साधारण व्यक्ति सुबह उठकर, नहा धोकर, खा पीकर, तैयार होकर, कार्यालय या दुकान, या जो भी उसका कार्यस्थान है, वहाँ जा बैठता है; और दिन भर सोचता है कि मुझे पैसा कैसे कमाना है, किस प्रकार अधिक-से-अधिक धन सम्पत्ति एकत्रित करनी है, इसे हम लौकिक जीवन कहते हैं। इसके विपरीत साधक अपने क्षेत्र में निरन्तर साधनारत रहता है। उसी के अनुरूप कर्म करता है, तो उसका परिणाम भी लौकिक नहीं होता। उसकी उपलब्धि धन सम्पत्ति की नहीं, अपने प्रतिद्वन्द्वियों को पराजित कर उनसे कुछ छीनने की नहीं उसकी उपलब्धि तो उसका आत्मिक विकास है। आत्मिक विकास के परिणामस्वरूप, उसका चरित्र सात्विक होगा, उसके मन में दया, करुणा, प्रेम आदि भाव होंगे। अतः उसके अनुभव निश्चित रूप से अलौकिक होंगे। इसीलिए 'तोड़ो कारा तोड़ो' में स्वामी जी तथा कुछ अन्य चरित्र अलौकिक हैं। इस अर्थ में देखें तो राम, कृष्ण तथा युधिष्ठिर के चरित्र भी अलौकिक हैं।

मैं स्वीकार करता हूँ कि रामकथा लिखते समय अध्यात्म की समझ रती मात्र भी नहीं थी। अतः रामकथा में अध्यात्म नहीं आ पाया। राम की अलौकिकता को न समझने के कारण, केवल सांसारिक, लौकिक धरातल पर, एक अत्यन्त क्षमतापूर्ण

और अत्यन्त सात्विक महापुरुष के रूप में मैंने उनका चित्रण करने का प्रयत्न किया है।

'तोड़ो कारा तोड़ो' में यद्यपि धर्म और जीवन की अनेक जटिल गुत्थियों को अत्यन्त सरल ढंग से प्रस्तुत किया गया है; किन्तु यह प्रश्न उठता है कि क्या यह कृति मनोरंजन के उद्देश्य से भी पढ़ी जा सकेगी?...मैं मानता हूँ कि विविध प्रकार के लोगों का मनोरंजन भी विविध प्रकार से होता है। एक व्यक्ति का मनोरंजन हॉकी खेलने से होता है। दूसरे का दूरदर्शन पर दिन भर क्रिकेट का मैच देखने से होता है। जो व्यक्ति शुद्ध मनोरंजन के लिए उपन्यास पढ़ना चाहे, निश्चित रूप से 'तोड़ो कारा तोड़ो' उनके लिए नहीं है। किन्तु साहित्य और कलाएँ जिनका मनोरंजन हो सकती हैं, अच्छा और गम्भीर साहित्य पढ़कर जो जीवन को समझने का निश्चित प्रयास करते हैं, मुझे नहीं लगता कि ऐसे लोगों को इसे पढ़ने में कोई कठिनाई है। लगभग साठ-पैंसठ वर्षों के एक गम्भीर सज्जन, जो भाषा और साहित्य सम्बन्धी एक अच्छे पद पर नौकरी कर, अवकाश प्राप्त कर चुके थे, ने 'तोड़ो कारा तोड़ो' पढ़ा तो बड़े चमत्कृत होकर मुझसे कहा, "कोहली साहब! आप स्वामी जी के साथ-साथ ही चल रहे थे क्या? सब कुछ इतना स्पष्ट, सजीव और प्रत्यक्ष होकर आया है।" इसी प्रकार कुछ अन्य पाठकों ने भी पुस्तक पढ़कर मुझसे सम्पर्क किया। उन्होंने स्वामी जी की जीवनी पढ़ी या नहीं, स्वामी जी के भाषण तथा निबन्ध पढ़े या नहीं, किन्तु यह उपन्यास उन्हें इतना सरस लगा कि उनकी रुचि स्वामी विवेकानन्द के जीवन, व्रत (मिशन) तथा साहित्य की ओर उन्मुख हो गई। अध्यात्म के क्षेत्र के कुछ ऐसे अन्य सम्प्रदाय, जिनके अपने अपने गुरु हैं, चाहते हैं कि उनके गुरु के विषय में भी, ऐसा ही सरस और रोचक उपन्यास लिखा जाए। इन सारी प्रतिक्रियाओं को देखकर मुझे लगता है कि यह उपन्यास हिन्दी के पाठक को प्रीतिकर लगा है। मेरा प्रकाशक निरन्तर कह रहा है कि अगला खण्ड भी शीघ्रतिशीघ्र तैयार कर दीजिए। इससे यह तो नहीं लगता कि यह उपन्यास पाठक के लिए अपठनीय अथवा अरुचिकर सिद्ध हो रहा है। मैं यह नहीं कहूँगा कि जो पाठक इसे पढ़ रहे हैं, उनके लिए यह मनोरंजन का साधन है (मनोरंजन शब्द कुछ हल्का पड़ता है); किन्तु यह अवश्य कहूँगा कि उन्हें यह प्रीतिकर लगता है, इससे वे कुछ पाते हैं, उनकी तृप्ति हो रही है। अन्यथा कोई अपना समय क्यों नष्ट करेगा !!

अध्यात्म जीवन का ही नहीं, कला का भी सत्य है। इसीलिए समय-समय पर प्रश्न भी उठता रहा है कि आस्थावान, भावनायुक्त पाठक कृति के भावों के साथ बहकर संन्यास धारण करने का संकल्प तो नहीं कर लेगा?...ऐसा भावुक व्यक्ति जो अपने सामने आनेवाली किसी भी चीज का अनुकरण करने लगे, यदि फिल्म देखे, तो उसके नायक-नायिका का अनुकरण करने लगे, क्रिकेट का मैच देखे तो खिलाड़ियों का अनुकरण करने लगे, 'देवदास' उपन्यास पढ़े तो मदिरा सेवन करने लगे और

वेश्यागामी हो जाए, जिस उपन्यास का नायक संन्यासी है, उसे पढ़े तो संन्यास ग्रहण करने की ओर प्रवृत्त हो जाए, ऐसे भावुक व्यक्ति से तो वैसे ही सावधान रहना चाहिए। उसके जीवन में 'तोड़ो कारा तोड़ो' के बिना भी अनेक संकट हो सकते हैं। किन्तु यदि कोई इतना ही आस्थावान व्यक्ति है, जिसके अपने मन में, एक प्रकार का प्रच्छन्न वैराग्य है, या जिसके मन में अत्यन्त सात्विक जीवन जीने की इच्छा है; और इस उपन्यास को पढ़कर उसका वैराग्य जाग उठता है, तो उसकी प्रतिक्रिया वही है, जो जीवनी, उपन्यास या इतिहास पढ़कर किसी भी महापुरुष के सम्बन्ध में हो सकती है। महाराणा प्रताप के विषय में पढ़कर, कोई अपने देश के लिए अपने प्राण देने को तत्पर हो जाए, तो महाराणा के विषय में लिखनेवाले को पुरस्कृत किया जाना चाहिए। आदर्श जगाना ही तो लेखन का सबसे महत्वपूर्ण लक्ष्य होता है। भावुकता और संवेदनशीलता में बहुत अन्तर है। भावुक बनकर, भावना में बहकर, अपने जीवन से खिलवाड़ करना, अलग बात है। त्याग के तो हम सब प्रशंसक हैं; किन्तु जब व्यक्ति वस्तुतः जीवन के सुख भोग त्यागता है, तो उसके निकट के लोग, उसके अपने सम्बन्धी, अपने परिवार के लोग, उससे प्रसन्न नहीं होते। वे उसे उसी मार्ग पर चलाना चाहते हैं, जिस पर वे स्वयं चह रहे हैं। किन्तु हम पूजा उन्हीं की करते हैं, जिन्होंने अपना बलिदान किया है, त्याग किया है; और समाज के हित को अपने निजी सुख से अधिक महत्वपूर्ण माना है।

बचपन में सुना था कि कई लोग नहीं चाहते कि उनके बच्चे श्रीमद्भगवद्गीता पढ़ें। वे आशंकित थे कि उनके बच्चे गीता पढ़कर संन्यासी बन सकते हैं। उनके बच्चे संन्यासी हो गए तो वृद्धावस्था में उनकी देखभाल कौन करेगा? पुत्र तो भगवा धारण कर चल देगा और वे असहाय रह जाएंगे। यदि ऐसा होता है तो क्या उसके लिए गीता दोषी है? यह कहा जाए कि वह कल्याणकारी कृति नहीं है? भगवद्गीता इस देश का गौरव है। यह संसार के उच्चतम दर्शन को प्रस्तुत करती है। साहित्य में, अध्यात्म में, चिन्तन में, दर्शन में, इसका सर्वोत्कृष्ट स्थान है। हाँ! हमें सावधान अवश्य रहना चाहिए कि किसी भी चीज का दूषित प्रयोग न हो। स्वामी विवेकानन्द पर लिखकर मैं स्वयं संन्यासी नहीं हो पाया। संन्यास का अर्थ है, सब कुछ ईश्वर को समर्पित करना। संन्यास का अर्थ भीख माँगना नहीं है। इतना ईश्वरनिर्भर होना है कि अपनी चिन्ता स्वयं न कर ईश्वर पर डाल दें। इस समय को खाया, सो खाया। अगला भोजन कहाँ से आएगा, इसकी चिन्ता ईश्वर पर छोड़ दें। ईश्वर की इच्छा मान कर चलना कि देगा तो खा लेंगे, नहीं देगा तो नहीं खाएँगे। भूख रह जाएँगे, भूख के कारण मृत्यु आई तो स्वयं को उसे सौंप देंगे। इस सीमा तक ईश्वर पर निर्भर होकर अपना सारा कर्म, सारा जीवन उसे समर्पित कर देना। यह तो बहुत ऊँचा आदर्श है। मैं स्वयं ही नहीं कर सका। किन्तु कर सकूँ, तो उसको श्रेयस्कर ही मानूँगा। यह नहीं मानूँगा कि मुझसे कुछ गलत हो गया। कोई सोच समझकर प्रौढ़ मन से संन्यास ग्रहण करने का

निश्चय करता है, तो उसमें चिन्ता करने या आशंकित होने की कोई आवश्यकता नहीं है।

उपन्यास के दूसरे खण्ड को मैंने स्वामी विवेकानन्द द्वारा हिमालय क्षेत्र की ओर प्रस्थान तक लाकर रोक दिया था; किन्तु उपन्यास सम्पूर्ण नहीं हुआ था। मेरे मन में स्वामी जी के समग्र जीवन को लेकर लिखने की ही इच्छा थी। किन्हीं कारणों से कुछ कारण तो मेरे अपने जीवन के लेखन सम्बन्धी थे उपन्यास ठहर गया। उसमें कदाचित् अदृश्य का संकेत भी था। 'महासमर' के दो या तीन खण्ड लिखकर मैं रुक गया था। और बीच में 'तोड़ो कारा तोड़ो' लिखना आरम्भ किया। यह वैसा ही था, जैसे गाड़ी कहीं जा रही हो, और उसको इसलिए रोक दिया जाए कि दूसरी गाड़ी के साथ उसके डिब्बे जोड़े जाएँगे। उसी प्रकार 'महासमर' को रोककर 'तोड़ो कारा तोड़ो' लिखवाया गया। इस प्रक्रिया के कारण 'महासमर' के दृष्टिकोण में भी बहुत अन्तर आया। मेरी समझ कुछ विकसित हुई।

1979 ई. तक मैंने 'अभ्युदय' (रामकथा) पूरा किया था, उसके पश्चात् 'महासमर' के आरम्भिक तीन खण्डों के पश्चात् 'तोड़ो कारा तोड़ो' लिखा। 'अभ्युदय' में मेरा तर्कशील विचारक मन ही दिखाई पड़ता है। 'तोड़ो कारा तोड़ो' लिखते समय मुझमें अध्यात्म, ईश्वर और तत्त्वचिन्तन की थोड़ी समझ विकसित हुई। वस्तुतः यह उपन्यास लिखते समय, मेरे मन, चिन्तन तथा व्यक्तित्व में अनेक प्रकार के परिवर्तन आए, जिसका स्पष्ट प्रभाव 'तोड़ो कारा तोड़ो' के पश्चात् लिखे गए 'महासमर' के अन्य खण्डों 'धर्म', 'अन्तराल', 'प्रच्छन्न', 'प्रत्यक्ष' तथा 'निर्बंध' पर भी देखा जा सकता है। यह परिवर्तन अध्यात्म सम्बन्धी ही है। मैं यह नहीं कहता कि मुझे कुछ दिव्य अनुभव हुए, या इन्द्रियातीत ज्ञान प्राप्त हुआ है। ऐसा कुछ नहीं है; किन्तु जो मैंने पढ़ा, सोचा और समझा है तथा मेरे चारों ओर जो कुछ घटित हुआ है, उसके कारण जीवन की प्रौढ़ता के साथ बहुत सारे नए निष्कर्ष मेरे सामने आए हैं।...कुछ लोग यह मानते हैं कि व्यक्ति जब बूढ़ा और असहाय हो जाता है, असमर्थ हो जाता है, तो वह ईश्वर को स्मरण करने लगता है... 'हारे की हरि नाम है।' पर मैंने यह पाया कि जब तक बालक बढ़ रहा है, तब तक उसने अपने आपको समर्थ होते देखा है। शरीर बढ़ रहा है, मन विकसित हो रहा है, उसका ज्ञान बढ़ रहा है। वह नौकरी करता है, व्यवसाय करता है, धन कमाता है, समर्थ होता है; इसीलिए उस समय संसार का केवल इन्द्रधनुषी रूप ही देखता है। यह वैसा ही है, जैसे एक पौधे का बीज बोया जाए तो वह अंकुरित होता है, विकसित पल्लवित, पुष्पित होता है। उसमें फूल आते हैं। तब तक उसका मन कुछ और ही होता है। परन्तु जब वह पौधा मुरझाने लगता है, तो चाहे वसंत आए, चाहे उसको कितना ही खाद पानी दिया जाए, वह अपना जीवनक्रम प्रकृति के नियमों के अधीन ही पूरा करेगा। मनुष्य जब जीवन के इस रूप को देखता है कि जिस शरीर को उसने अपना समझ रखा था, उसके दाँत हिलने लगे

हैं, आँखों से भी कम दिखाई देता है, घुटने भी दर्द करने लगे हैं, कमर में भी कष्ट होने लगा है; तो उसके सामने ये निष्कर्ष आते हैं कि 'वह' केवल यह शरीर ही नहीं है। उसके पीछे कुछ और है। शरीर तो नश्वर है, पर कुछ अनश्वर भी है। और जो अनश्वर है, वही इस संसार से परे, पीछे, डोर खींचने वाली सत्ता है। ये सब बातें समझ में आने लगती हैं, तो मनुष्य का दृष्टिकोण बदलता है। मैं इसको किसी भी प्रकार से दुर्बलता, कोमलता, कायरता या असमर्थता नहीं मानता। मैं इसे परिपक्वता मानता हूँ। इसीलिए कहा गया है कि उपनिषद् इत्यादि यदि शैशवावस्था में पढ़े भी जाएँ, तो भी समझ में नहीं आते; क्योंकि जीवन का यह अनुभव तो हमने पाया ही नहीं, वह दृष्टिकोण तो हमारे पास है ही नहीं। उस समय व्यक्ति उसको पढ़ सकता है, कंठस्थ कर सकता है, किन्तु उसकी समझ, उसकी अनुभूति वह बाद में प्रौढ़ मन से ही कर सकता है। मुझमें वही अन्तर आया है। मैं स्वयं भीतर से बहुत बदला हूँ। यह परिवर्तन विकास की दिशा है, आत्मोपलब्धि की दिशा है। साहित्य पढ़कर या लिखकर यदि यह परिवर्तन आया है, तो उससे बड़ा दूसरा कोई पुरस्कार नहीं हो सकता। (7. 11. 2004)

*We Strive
to Satisfy
Our Customers*

VASUNDHARA MARKETING CO.

Sales Tax No. LC/13/017261/1080
☎ 3277883 (Off.)

Regd. Office
1/3575, Netaji Subhah Marg
Darya Ganj, New Delhi-110002

नेपामूल भारतीय : दिशा और अस्मिता की तलाश में

प्रोफेसर ए. सी. सिन्हा*

नेपामूल भारतीय नेपाली मूल के भारतीय हैं, जो कई पीढ़ियों से भारत में निवास कर रहे हैं और भारतीय जीवनधारा में पूरी तरह शामिल हो चुके हैं। विश्व का एकमात्र हिन्दू राष्ट्र, नेपाल, आज पूर्णरूपेण सार्वभौम राष्ट्र है। परन्तु प्राचीनकाल में नेपाल और भारत पृथक नहीं थे। उदाहरणस्वरूप सम्राट अशोक और भगवान बुद्ध के काल में मगध और नेपाल की सीमाएँ ऐसी नहीं थीं। इसी प्रकार नेपाल के मल्लवंशी राजाओं और मिथिला नरेशों ने एक दूसरे के क्षेत्रों पर समय-समय पर राज्य किया था। प्राचीन काल में नेपाली और भारतीय तीर्थाटन और व्यापार के लिए एक दूसरे के क्षेत्र में लम्बी यात्राएँ करते थे। परन्तु बड़े पैमाने पर नेपालियों का रोजी-रोटी की खोज में भारत आना और बड़ी संख्या में बस जाना, एक नई शुरुआत है।

बात यों हुई कि मुगल साम्राज्य की अवनति के साथ ही उत्तरी भारत में अंग्रेजों का दबदबा बढ़ने लगा। प्रायः उसी समय शाह वंशी गोरखा नरेश नेपाल में अपनी स्थिति मजबूत करने में लगे थे। स्वाभाविक है कि इन दो महत्वाकांक्षी और सक्षम राज्यों में वर्चस्व की लड़ाई ठनी इसमें नेपालियों की पराजय हुई। 1815 की सन्धि के अनुसार नेपाल को नेपाल से बाहर की जीती हुई भूमि अंग्रेजों के लिए खाली करनी पड़ी और वर्तमान नेपाल की सीमा का निर्धारण हुआ। इस लड़ाई के उपरान्त अंग्रेजों ने अनुभव किया कि आधुनिकता से परे सीधे-सादे नेपाली पहाड़ी और जंगली युद्ध में विशेषकर असरदार हैं। इसी समय अपनी 'फूट डालो और राज करो' की नीति के अन्तर्गत अंग्रेजों ने कुछ समुदायों के सन्दर्भ में 'युद्धक प्रजाति' (marshals race) की अवधारणा प्रचारित की। इसके अनुसार गुरखे, सिक्ख, मराठे, जाट आदि को युद्धक प्रजाति बताया गया और अपेक्षाकृत शिक्षित और राजनीति से परिचित समुदायों को अंग्रेजी फौज से अलग रखा गया। कालान्तर में गोरखा सिपाहियों की भरती के लिए शिमला, देहरादून, गोरखपुर, लहेरिया सराय, दार्जिलिंग और शिलाँग में फौजी भरती के दफ्तर खोले गए।

* प्रोफेसर ए. सी. सिन्हा, भूतपूर्व डीन, समाजशास्त्र संकुल, उत्तर-पूर्वी पार्वत्य विश्वविद्यालय शिलाँग', 793022; वर्तमान सम्पर्क : डी 7/7331, बसन्तकुंज, नई दिल्ली-110070

राजतन्त्र की अनुदारता और कुशासन के कारण बहुत सारे नेपाली जवान अंग्रेजी फौज में शामिल होने लगे। जो फौज में नहीं लिये जा सकते थे वे कुली का काम करके अपनी जीविका अर्जन करने भारत आने लगे। फिर तो खेतिहर, चरवाहे, दस्तकार भी भारतमुखी हो चले। जिन्हें कुछ नहीं मिलता, वे पहरेदार या खानसामा बनकर काम करने लगे। इस प्रकार भारतीय मानस में नेपाली का मतलब गोरखा सिपाही, गोरखा पहरेदार या कुली रह गया। इनकी आमदनी इतनी कम होती थी कि उसमें से बचाकर अपने स्वजनों के पास भेजना बहुत मुश्किल था। फिर आवागमन के साधनविहीन नेपाल की यात्रा कठिन और लम्बी हुआ करती थी। फलस्वरूप भारत में कार्यरत नेपाली धीरे-धीरे भारत में ही बसने लगे। इस प्रकार भारतीय नगरों, सिक्किम, दार्जिलिंग और पूर्वोत्तर के राज्यों में इनकी आबादी बढ़ने लगी।

नेपामूल भारतीय : एक परिचय

नेपामूल भारतीयों को समझने के लिए यह जरूरी है कि नेपाली समाज के विषय में जाना जाए। नेपाल दुनिया का एकमात्र हिन्दू राष्ट्र है; परन्तु वहाँ बौद्ध, ईसाई और मुसलमान भी रहते हैं। नेपाली नेपाल की राष्ट्रभाषा है; परन्तु नेपाली के अतिरिक्त बहुत सारी जनजातियाँ अपनी भाषाएँ बोलती हैं। उसी प्रकार नेपाल की तराई में हिन्दी के अतिरिक्त मैथिली, भोजपुरी और अवधी बोली जाती है। नेपाल में हिन्दू धर्मशास्त्रीय कानून लागू हैं जिनमें हिन्दू वर्ण व्यवस्था मानी जाती है। परन्तु सभी नेपाली मुख्यतः दो सामाजिक समूहों में विभक्त हैं : तागाधारी (द्विज) और मतवाली (वे समुदाय, जिनके शराब पीने की मनाही नहीं है)। शारीरिक रूप से नेपाली जनता अत्यन्त ही विभिन्नता भरी है। जैसे बिल्कुल गौरवर्ण और तीखी नाक-नक्शवाले, भारी-भरकम सिर और शरीरवाले पीतवर्णीय और श्यामवर्णीय टिगने थारू और धाँगड़।

एक दूसरे प्रकार से नेपाली समाज को तीन सामाजिक धड़ों में बाँटा जा सकता है। प्रथमतः गोरखाली समूह, जो अपने को भारत के महाराष्ट्र और राजस्थान से आनेवालों की सन्तति मानता है और भारतीय हिन्दू समाज के समान वर्णव्यवस्था और विभिन्न जातियों में बाँटा हुआ है। इनमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और विभिन्न अछूत समझी जानेवाली जातियाँ पाई जाती हैं। द्वितीय, हिन्दू और बौद्ध मतावलम्बी नेवार समूह के लोग, जो सक्षम, सुसंस्कृत और व्यवसाय कुशल होते हैं। इनके बीच भी विभिन्न जातियाँ पाई जाती हैं। ये मुख्यतः काठमाण्डु घाटी में बसे हुए हैं। तृतीय, किरात समूह की जनजातियाँ : राई, मगर, गुरुंग, लिम्बू आदि। इनकी अपनी भाषाएँ हैं और ये अपने क्षेत्र विशेष में अपने परम्परागत नियमों के अनुसार अपनी जनजातीय प्रशासन में लिप्त हैं। स्मरणीय है कि राजतंत्रीय नीति : "राजा, राष्ट्र, एक भाषा, एक

भेष” के अनुसार सबों को नेपाली भाषा का ज्ञान और विशेष आयोजनों में स्वीकृत नेपाली राष्ट्रीय पोशाक धारण करना अनिवार्य है। इस प्रकार नेवार और किरात समूह के नेपाली बहुभाषी होते हैं।

‘लाहुरे’ और जाँबाज गोरखे

उन्नीसवीं सदी के आरम्भ में नेपाली लड़के आजीविका की तलाश में नेपाल के बाहरी सैन्य बलों में शामिल होने लगे। महाराजा रणजीत सिंह के उत्थान के साथ काफी नेपाली सिक्ख सेना में भर्ती होने के लिए सिक्खों की राजधानी लाहौर जाने लगे। उन दिनों फौजियों की तनख्वाह गाहे-ब-गाहे ही मिलती थी, परन्तु पराजित राज्यों को लूटने की इजाजत होती थी। इस प्रकार की कमाई कर नेपाल के पश्चिम दिशा से आनेवाले सभी फौजियों को ‘लाहुरे’ (लाहौर से लौटे वीर-बाँकुरे) कहा जाने लगा। कालान्तर में ‘लाहुरे’ नेपाल से बाहर फौजी नौकरी करनेवाले सिपाहियों का पर्यायवाची बन गया।

1814-15 की अंग्रेजों के साथ लड़ी गई लड़ाई में नेपालियों ने अपने सीमित साधनों के बावजूद अंग्रेजी फौज के छक्के छुड़ा दिए थे। नेपाली अधिकारी वर्ग की मंशा के विरुद्ध अंग्रेजों ने अपनी फौज में गोरखा सैनिकों की बहाली आरम्भ की। 1857 के सिपाही विद्रोह को कुचलने के लिए अंग्रेजों के पक्ष में नेपाली प्रधानमन्त्री राणा जंगबहादुर ने अपनी सेना के साथ गोरखपुर में डेरा डाला। इसके उपरान्त बड़े पैमाने पर नेपाली गोरखे अंग्रेजी सेना में और भारतीय पुलिस सेवा में शामिल होने लगे। अंग्रेजों ने खासकर दुर्गम पहाड़ी और पिछड़े क्षेत्रों के निवासियोंलाई, मगर, गुरुंग, लिम्बूको भारतीय सेना में प्रमुखता दी। सिपाहियों की अपेक्षाकृत आदिम क्रूरता और पाशविक हिंसा को उन्होंने युद्ध कौशल का नाम दिया और इनकी निरक्षरता और अन्धभक्ति अंग्रेजों को अत्यन्त प्रिय लगी।

1860 और 1940 के बीच सर्वाधिक गोरखे अंग्रेजी सेना में भर्ती हुए। सेवानिवृत्त होने पर फौजी छावनियों के प्रायः कुछ गोरखे भारत में बस जाने लगे। फिर तो सेवानिवृत्त गोरखों को अंग्रेजों ने पूर्वोत्तर भारत के पहाड़ी क्षेत्रों में बसाना शुरू कर दिया। ऐसी स्थिति बन गई थी कि अंग्रेज फौजी अफसर मान बैठा था कि गोरखा सिपाही उनके अलावा किसी दूसरी जाति के अफसरों के अधीन काम ही नहीं करेंगे। 1947 में भारतीय स्वतंत्रता की स्थिति में गोरखा सैनिकों का भारत और ब्रिटेन में विभाजन होना सुनिश्चित था। परन्तु राय पूछे जाने पर अधिकतर गोरखा फौजियों ने भारतीय फौज में भारतीय अफसरों के साथ काम करना चाहा और अन्त में 10 में से 6 गोरखा रेजीमेण्ट भारतीय फौज का हिस्सा बनी रही।

अंग्रेजी भारत में नेपालियों के आ बसने के कारण

नेपालियों के लिए भारत बसने के दो प्रकार के कारण थे : नेपाल से दुराव जन्य और भारत के प्रति आकर्षणजन्य। प्रथमतः नेपाली राजतंत्र निरंकुश और अत्याचारी था। सत्ता परिवर्तन के साथ बड़े पैमाने पर खून-खराबा होता था। नेपाल का उत्तरी भाग बर्फीला और दुर्गम पहाड़ों से भरे होने के कारण खेती के अनुपयुक्त था। घाटी और नदी तट पर पैदा होनेवाले धान्य को अधिकारी वर्ग और सामन्त कर स्वरूप छीन लेते थे। दूसरी तरफ यूरोप के निवासियों के सम्पर्क में आने पर नई दुनियाँ की नई फसलेंकई, आलू, मूली, टमाटर, शिमला मिर्च, तम्बाकू आदिऊसर पहाड़ी जमीन पर पैदा होने लगे। इन नए प्रकार के खाद्य पदार्थों से नेपाल की निर्धन जनता अपेक्षाकृत दीर्घायु और स्वस्थ रहने लगी। कालान्तर में इस प्रकार भोजन में बदलाव के चलते आबादी बढ़ी, जिसका नेपाली धरती पर भरण-पोषण कठिन होने लगा।

भारत की तरफ नेपालियों को आकर्षित करनेवाली कई प्रवृत्तियाँ काम कर रही थीं। पहली, भारतीय अंग्रेजी गोरखा फौज की नौकरी, तनख्वाह, कार्यविधियाँ, रहन-सहन, सेवानिवृत्ति की शर्तें आदि नेपाली जीवन को स्थायित्व प्रदान करती थीं। अंग्रेजों ने अपने स्वार्थवश गोरखों को एक ‘युद्धक प्रजाति’ कहकर एक नया सम्मान दिया। धन, स्वास्थ्य, रहन-सहन और पोशाक आदि ने नेपाली समाज में लाहुरों का सम्मान और बढ़ा दिया। फिर फौज से सेवानिवृत्त होकर या तो वे भारत में ही फौजी छावनियों के आस-पास बस जाते थे या पेंशन प्राप्तकर नेपाल में प्रतिष्ठित जिन्दगी बिताते थे। अंग्रेजी स्वामिभक्ति के फलस्वरूप वफादार फौजियों के बेटों को फौज की भरती में तरजीह दी जाती थी।

दूसरा, नेपाल युद्ध के बाद भारत में ऐसी स्थितियाँ बनती गई कि नेपालियों का पूर्वोत्तर हिमालयी क्षेत्र में प्रसार बढ़ने लगा। 1825-26 में असम अंग्रेजों के प्रभुत्व में आया। 1835 में दार्जिलिंग की पहाड़ियाँ अंग्रेजों के हाथ लगीं। 1851 से 1888 के बीच सिक्किम में अंग्रेजी दबदबा स्थापित हुआ। 1865 में भूटान की पराजय के बाद कालिम्पोंग से लेकर असम के दरंग जिले तक दुआर (डुअर्स) की भूमि अंग्रेजों के हाथ लगी। इन सभी क्षेत्रों में जंगल साफ करने, चाय बगानों में काम करने और शांति स्थापित करने में नेपालियों ने मुख्य भूमिका निभायी। इसकी परिणति 1903-04 की तिब्बत युद्ध में हुई। क्लाइड हाइट और हर्वट रीजले ऐसे अंग्रेज प्रशासक हुए, जिन्होंने पूर्वी हिमालय के स्थायित्व के लिए इन क्षेत्रों में नेपालियों की बस्ती आवश्यक समझी और इस पर अमल भी किया।

तीसरा, असम राज्य के शिंगफो सरदार ने अंग्रेजों को असम में चाय की अवस्थिति की सूचना दी। आनन-फानन में पूरी अंग्रेजी हुकूमत चाय की पैदावार और

व्यापार के पीछे पड़ गई। 1838 में असम कम्पनी चाय पैदाकर बेचनेवाली दुनियाँ की पहली ज्वाइंट-स्टॉक कम्पनी बनी और उसने संगठित रूप में चाय बगानों की नींव डाली। फिर तो देखते-देखते ब्रह्मपुत्र घाटी, कच्छार घाटी, दुआर्स और दार्जिलिंग में चाय बगानों का जाल बिछ गया। चाय बगानों की स्थापना के लिए जंगलों को साफ करना, बगान के लिए पत्थर भरी भूमि को समतल बनाना, बगान लगाना आवश्यक था। और फिर चाय के उत्पादन की प्रक्रिया में सस्ते और मेहनती मजदूरों की काफी जरूरत होती है। नेपाली समुदाय दार्जिलिंग से पूरब की तरफ इन बगानों की तरफ आकर्षित हुआ।

चौथा, अंग्रेजों ने उद्योगों और नगरों को इमारती लकड़ी की विधिवत आपूर्ति के लिए वन आरक्षण और वन प्रशासन की नीति 1860 ई. दशक में स्वीकार की। इसी समय रेलवे लाइन डाली जा रही थी और चाय के निर्यात में लकड़ी की सस्ती और हल्की पेटियों की आवश्यकता थी। जंगलों से इमारती लकड़ी के निष्कासन, जंगल की सुरक्षा और देखभाल के लिए जंगलों से परिचित और निर्भीक परन्तु सस्ते कार्यकर्ताओं की आवश्यकता नेपालियों ने पूरी की। खासकर नेपाली आराकशियों को लकड़ी काटने और चीरने का काम मिलने लगा।

अन्त में, आवागमन के साधन विहिन नेपाल की तुलना में अंग्रेजी भारत में रेलवे, पक्की सड़कें और जल साधनों का विकास हुआ, जिससे बंगाल, असम और बर्मा के दुर्गम क्षेत्रों की यात्रा शीघ्र, सुगम, सस्ती और सुरक्षित हो गई। भारत के नगर, कल-कारखाने, रेल, चाय बगान, फौजी छावनियाँ आदि नेपालियों के आकर्षण के केन्द्र बनते गए। प्रत्येक नेपाली के दिमाग में बात बैठ गई कि भारतीय नगरों में उन्हें कोई-न-कोई काम मिल ही जाएगा, जिससे वे अपनी जीविका चला सकेंगे।

नेपामूल आबाद क्षेत्रों का प्रकार और प्रसार

यों तो नेपामूल भारतीय देश के प्रायः सभी क्षेत्रों में बिखरे पाए जाएँगे; परन्तु मूलतः ये पहाड़ी और जंगली क्षेत्रों के अभ्यस्त होते हैं। अंग्रेजों के सम्पर्क में आने के पहले से वे हिमाचल और उत्तरांचल से परिचित रहे हैं। सिक्किम और भूटान नेपाल के पूर्वी छोर के पड़ोसी रहे हैं। अंग्रेजों द्वारा असम के अधिग्रहण करने के बाद अपेक्षाकृत कम आबादीवाले पूर्वोत्तर भारत की पहाड़ियों की तरफ इनका रुझान हुआ। देखते-देखते उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध के पाँच दशकों में नेपामूल भारतीयों ने दार्जिलिंग और सिक्किम का पूर्णरूपेण नेपालीकरण कर दिया। अगले पचास वर्षों में भूटान, असम, अरुणाचल, नागालैण्ड, मणिपुर, मिजोरम होते हुए आराकान (बर्मा) पहाड़ियों तक इनका प्रसार हो गया। इन क्षेत्रों में इनकी आबादी कहीं सघन तो कहीं छिट-पुट रही; परन्तु स्थानीय जनजातियों की संख्या के अनुपात में नेपामूल बस्तियाँ अपनी अलग छाप छोड़ती हैं।

सेवानिवृत्त सैनिकों की पुर्नवास की नौ आबादियाँ पूर्वोत्तर राज्यों में एक नीति के अनुसार अंग्रेजों के जमाने से फौजी छावनियों के आस-पास नेपालियों को बसाया गया था। कालान्तर में सामरिक रूप से दुर्गम क्षेत्रों में सेना के सेवानिवृत्त सैनिकों को सुरक्षा की दृष्टि से बसाया गया। ये बस्तियाँ अनुशासित, परिश्रमी और पेंशनयाप्ता फौजियों की देख-रेख में शीघ्र सम्पन्न गाँवों में बदलने लगीं। सेना से मिलनेवाली सुविधाओं के अलावा पशुपालन, दूध-दही का व्यापार, शाक-सब्जी की खेती कर इन ग्रामीणों ने अपने गाँवों को अपेक्षाकृत अविकसित जनजातीय क्षेत्रों में खुशहाल बना डाला। और यहीं से इनकी समस्याओं का आरम्भ होता है।

ज्ञातव्य हो कि इन आबादियों के क्षेत्र नागा, मिजो, मणिपुरी या उल्फा प्रभावित विद्रोहियों के परम्परागत कार्यक्षेत्र रहे हैं। स्वाभाविक है कि इन क्षेत्रों में विद्रोहियों की टोह में सेना का आवागमन होगा। गाहे-ब-गाहे दोनों के बीच भिड़न्त भी होगी। इस द्वन्द्वात्मक स्थिति में प्रायः नेपामूल बस्तियाँ फँस जाती हैं। भूतपूर्व सैनिक होने के कारण उनका झुकाव सेना की तरफ होना उचित भी है। दूसरी तरफ, जनजातियों के बीच रहकर उनके विरुद्ध कदम उठाना कहाँ तक चतुराई का काम है? मणिपुर, नागालैण्ड, असम और मेघालय में कई बस्तियाँ ऐसी सन्देहास्पद स्थितियों में प्रायः जलाई गईं। ऐसी आगजनी से होनेवाली आर्थिक हानि और मानवीय पीड़ा की भरपाई प्रायः नहीं हो पाती है। क्योंकि आबाद भूतपूर्व सैनिकों की सहायता से अपेक्षाकृत कम कर पाती है। दूसरी तरफ, स्थानीय प्रशासन नेपामूल भारतीयों के प्रति उदासीन पाया जाता है।

पशुपालक, चरवाहे और खेतीहरये प्रायः अंग्रेजों द्वारा अयुद्धक प्रजाति माने गए ब्राह्मण या अन्य जातियों के होते हैं, जिन्हें सेना के लिए अनुपयुक्त माना गया। खासकर शर्मा, जोशी या उपाध्याय उपाधिवाले ब्राह्मण गोपालन और पण्डितताई एक साथ सम्पन्न करते हैं। कालान्तर में ऊसर, पहाड़ी और जंगली क्षेत्रों में गाय, बैल, भैंस, भेड़-बकरी चराने का काम करते हैं। असम राज्य का वन विभाग आर्थिक लाभ के लिए जंगलों का चारागाह के रूप में बन्दोबस्त करता था तथा प्रति पशु कौड़ी उगाहता था। 1926 में नीति बदली और यह आमदनी वन विभाग के स्थान पर भूराजस्व विभाग ने वसूलना आरम्भ किया। जंगलों में मजदूरों के अभाव में नियत समय पर वन विभाग के लिए मजदूरी करने के लिए वनविभाग ने 'वनग्रामों' को बसाना शुरू किया। इन मान्यता प्राप्त ग्रामीणों को खेती के लिए कुछ जमीन और कुछ संख्या में मुफ्त पालतू पशु रखने की इजाजत होती थी। नेपामूल भारतीयों ने इस व्यवस्था का लाभ उठाया। आज का काजीरंगा अमभारण्य किसी जमाने में नेपामूल भारतीयों का चारागाह हुआ करता था।

पशुधन, शाक-सब्जी, दूध-दही के व्यापार और अन्य प्रकार से धन कमाकर नेपामूल भारतीयों ने भूमि में निवेश किया। इस प्रकार कल के टुटपूँजिये चरवाहे

अपेक्षाकृत अनुपजाऊ जमीन पर आ बसे और चरवाही के साथ-साथ खेती भी करने लगे। अपनी मेहनत, मितव्ययिता और सामाजिक भाईचारे के बल पर इन लोगों ने ऊसर-बंजर पहाड़ी जमीन को हरे-भरे खेतीहर गाँवों में बदल डाला। और बस यहीं से इनकी समस्याएँ शुरू होती हैं। परम्परागत विधि के मुताबिक जंगली जमीन जनजातियों की मानी जाती है, जिसे गैर-जनजातियों को नहीं आबंटित किया जा सकता। इस प्रकार नेपालमूल भारतीयों के जमीन सम्बन्धी दस्तावेज अनदेखे कर उन्हें बेदखल किया जाने लगा। प्रत्येक नेपालमूल भारतीय को सुविधानुसार स्थानीय जनजातीय नेताओं ने नेपाली प्रवासी करार देकर उनकी जमीन, पशुधन, खेत-खलिहान और घर-द्वार हड़पना शुरू किया। ऐसी घटनाएँ असम, मणिपुर और मेघालय में अकसर घटीं।

दस्तकार, कारीगर और अकुशल मजदूरपूर्वोत्तर भारत के प्रायः सभी छोटे-बड़े शहरों में और जयन्तिया पहाड़ियों की कोयला खदानों में बढ़ाई, लुहार, झाड़वर, खलासी, मिस्त्री, कुली, पहरेदार, रसोइये, खानसामा, माली, चपरासी, कँजड़े, फेरीवाले और इसी प्रकार के दूसरे काम में हजारों नेपालमूल भारतीय संलग्न हैं। ये बहुभाषी होते हैं। एकाधिक धर्मों को मानते हैं। इनके दोस्त और दुश्मन अन्य भाषाभाषी और जातियों या जनजातियों के होते हैं। इनकी पहचान सस्ती सेवा के आधार पर होती है, न कि नेपालमूल भारतीय के रूप में। प्रायः प्रत्येक समाज में इनके पक्षधर मिल जाते हैं और संकट की घड़ी में इनकी मदद करते हैं।

उभरते हुए सफेदपोश युवकयह नेपालमूल भारतीयों का वह तबका है, जो जन्म से ही बहुभाषी होता है। अपने पड़ोस के युवकों के साथ बड़े हुए, खेले, पढ़े-लिखे और भविष्य के सपने देखे, परन्तु वयस्क होते हैं समझने को बाध्य हुए कि व्यवस्था सबके लिए समान नहीं होती। शिक्षा, कौशल, योग्यता और स्वास्थ्य के बावजूद इन्हें सरकारी नौकरियों में नहीं लिया जाता। अपने पूर्वजों के विपरीत सेना की नौकरी भी अब उन्हें नहीं मिलती। सरकारी नौकरियों में जनजातियों को या 'मिट्टी के सपूतों' को प्रथम मिलता है। अगर ये उम्मीदवार होते हैं तो इन्हें नेपाली बताकर टरका दिया जाता है; जिस पर इन्हें स्वाभाविक झुंझलाहट होती है, क्योंकि इनके लिए नेपाली होना एक मिथक है। इन्होंने नेपाल नहीं देखा; वहाँ कभी गए नहीं; वहाँ इन्हें कोई नहीं जानता और ये भी वहाँ के किसी को नहीं जानते। बार-बार नेपाली करार दिए जाने पर इनमें एक प्रकार की कुण्ठा पैदा होती है। यों तो भारत के प्रत्येक नगर में नेपालमूल भारतीय पाए जाते हैं, परन्तु इनकी संख्या दिल्ली, मुम्बई, कोलकाता, बंगलोर, पटना, बनारस, लखनऊ, शिमला आदि नगरों में काफी पाई जाती है। इसी प्रकार पश्चिम में जम्मू, हिमाचल और उत्तरांचल में भी ये पर्याप्त संख्या में बसे पाए जाते हैं। परन्तु, सिक्किम, दार्जिलिंग, उत्तरी बंगाल और पूर्वोत्तर के प्रायः सभी राज्यों में नेपालमूल संख्या को नजरअन्दाज नहीं किया जा सकता। एक अनुमान के मुताबिक

नेपाल से परे पूर्वी हिमालयी क्षेत्र में 15 साल पहले इनकी आबादी 30-35 लाख आँकी गई थी। निश्चित रूप से आज यह संख्या पचास लाख के करीब होगी।

नेपालमूल भारतीयों की कुण्ठाग्रस्त प्रतिक्रिया

दार्जिलिंग से लेकर मिजोरम तक नेपालमूल भारतीयों में अपनी स्थिति के प्रति क्षोभ, आक्रोश और असमर्थता बनी हुई है। उनकी समझ में नहीं आता कि एक भारतीय होने के नाते भारत में कैसे वे एक सम्मानित जीवन जीएँ। उनके पास आज कोई सर्वमान्य, अनुभवी और दूरदर्शी नेता नहीं है, जो उनका मार्गदर्शन कर सके और जिसे भारतीय राजनेताओं में प्रतिष्ठा प्राप्त हो। फलस्वरूप उनके नाम पर स्वार्थी, अवसरवादी और अनुभवहीन नेता अपना उल्लू सीधा कर रहे हैं। नेपालमूल युवक प्रतिक्रियास्वरूप कभी भारत-नेपाल सन्धि की प्रतियाँ जलाते हैं, तो कभी गोरखा सिपाहियों की अतिरंजित कहानियाँ कहते हैं या पूरे हिमालयी क्षेत्र में एक बार फिर 'बृहत्तर नेपाल' के सपने देखते हैं। ये सारी प्रतिक्रियाएँ आवेश-वश की जाती हैं, क्योंकि इनके पीछे कोई संगठनात्मक, वैचारिक या योजनाबद्ध प्रयास नहीं होता। फलस्वरूप ये प्रतिक्रियाएँ सनसनी फैलाकर समाप्त हो जाती हैं।

कहने की आवश्यकता नहीं कि आज नेपालमूल भारतीयों की स्थिति चिन्ताजनक है। पीढ़ियों से भारतीय होने के बावजूद उन्हें अक्सर नेपाली नागरिक समझा जाता है। बात यों है कि भारतीय जनमानस में नेपाल एकमात्र हिन्दू राष्ट्र होने के बावजूद एक विदेशी राष्ट्र है। नेपालमूल भारतीय इस दुविधाभरी मनःस्थिति के शिकार होते हैं। स्मरणीय है कि भारत एक बहुभाषी, बहुधार्मिक और बहु-सांस्कृतिक महासंघ है, जिसमें विभिन्न इकाइयों के बीच एक अघोषित प्रतियोगिता चलती रहती है। नेपालमूल भारतीयों को इस अघोषित स्वस्थ प्रतियोगिता में आगे बढ़कर भाग लेना चाहिए, न कि इससे दरकिनार हो अपने भाग्य को कोसना चाहिए। अच्छा हो कि भूटानी नेपाली मूल के नागरिकों (ल्हात् शाम्पा) की भाँति नेपालियों से अपने को अलग करते हुए नेपालमूल भारतीय एक सर्वमान्य संज्ञा अपना लें। इससे इनकी समस्याओं के समाधान खोजने में कुछ हद तक सहायता मिलेगी और उनकी अस्मिता की तस्वीर भी कुछ हद तक साफ होगी।

पैशाची का भाषा भूगोल

राजमल बोरा*

पैशाची भाषा भारत की प्राचीनतम भाषाओं में से एक है। वह वैदिक संस्कृत की समकालीन और लोक-व्यवहार की भाषा रही है। वैदिक काल में, वैदिक संस्कृत का व्यवहार करनेवाले ऋषि-मुनि भी लोक-व्यवहार में पैशाची का उपयोग करते थे। वैदिक भाषा का जहाँ-जहाँ उपयोग होता था या उसका अपना जो भौगोलिक क्षेत्र था, उस क्षेत्र में पैशाची लोकभाषा के रूप में प्रचलित रही है। दरद परिवार का भौगोलिक क्षेत्र, पैशाची का क्षेत्र रहा है। इस तरह से विचार करें तो पैशाची दरदीय परिवार की प्रमुख भाषा हो जाएगी। पहले दरदीय भाषाओं पर विचार करते समय ग्रियर्सन ने *दरद परिवार* के विकल्प में *पैशाची परिवार*, नामकरण करना चाहा था किन्तु पैशाची के प्रति लोक भावना को देखकर उक्त नामकरण नहीं किया। ग्रियर्सन ने तो कश्मीरी को दरद परिवार की भाषा कहा है और इस नाते से कश्मीरी का भौगोलिक क्षेत्र पैशाची का भी भौगोलिक क्षेत्र हो जाता है। कश्मीर से हिमालय के पश्चिम में और गान्धार से आगे ईरान की सीमाओं तक और दक्षिण में सिन्ध तक पैशाची भाषा का भौगोलिक विस्तार लोक-व्यवहार की भाषा के रूप में हो गया था। सातवाहन वंश के राजाओं के काल में वह भाषा मध्यदेश में मगध की सीमाओं तक पहुँची है और बाद में सातवाहनों के दरबार में भी पहुँची है। पैशाची में लोक-वाङ्मय का विपुल लेखन हुआ है किन्तु वह सब लुप्त हो गया है। उस वाङ्मय में गुणाढ्य का नाम लिया जाता है। पैशाची में लिखी कथाओं का संस्कृत अनुवाद हमें प्राप्त है। मूल पैशाची का ग्रन्थ मिलता नहीं है। यों पैशाची का भौगोलिक क्षेत्र जितना व्यापक है, उतना ही उसका ऐतिहासिक काल भी वैदिक संस्कृत के काल से सातवाहन राजाओं के काल तक व्याप्त रहा है। पैशाची पर मार्कण्डेय ने, हेमचन्द्र ने और राजशेखर ने अपने ग्रन्थों में पैशाची का उल्लेख किया है। ग्रियर्सन ने भी पैशाची भाषा पर स्वतंत्र पुस्तक लिखी है। संस्कृत व्याकरण के ग्रन्थों की तरह बाद में जब प्राकृत के ग्रन्थ लिखे जाने लगे, उस समय प्राकृतों के विविध भेद बतलाते समय पैशाची को

* प्रोफेसर राजमल बोरा एम.ए. पी-एच.डी, लिट., हिन्दी के सुप्रसिद्ध लेखक एवं समालोचक एवं डॉ. बाबा साहब अम्बेडकर मराठवाड़ा विश्वविद्यालय हिन्दी विभाग के भूतपूर्व प्रोफेसर एवं अध्यक्ष रहे हैं।

भी जोड़ा जाने लगा। यह प्रक्रिया हेमचन्द्र के काल तक चली आई है और बाद में मार्कण्डेय ने भी पैशाची भाषा पर विचार किया है। पैशाची का उपयोग व्यवहार में करने पर भी उक्त भाषा के प्रति भावना अच्छी नहीं रही है। उक्त भाषा की ऐतिहासिक काल में उपेक्षा होती रही है। इसी से वह लुप्त होती गई है। पैशाची के सम्बन्ध में उपलब्ध सामग्री को क्रमशः प्रस्तुत करने का प्रयत्न कर रहा हूँ।

2

सामान्य रूप में पैशाची का भाषा-भूगोल कश्मीर से पश्चिम में ईरान की सीमाओं को छूनेवाला प्रदेश, दक्षिण में प्रतिष्ठान तक (सातवाहन राजाओं की राजधानी प्रतिष्ठान तक), मध्य भारत में और मगध की सीमाओं को छूनेवाले प्रदेश तक रहा है। यों कहना चाहिए कि प्रधान रूप से शूरसेन प्रदेश से ईरान तक पैशाची व्याप्त रही है। मार्कण्डेय की बात मान लें तो पैशाची सुदूर दक्षिण तक पहुँच गई थी। उक्त भाषा की भौगोलिक व्याप्ति वैदिक संस्कृत के सदृश रही है। वैदिक संस्कृत का समस्त क्षेत्र पैशाची का भी भौगोलिक क्षेत्र रहा है। इस पैशाची में भारत का लोक-वाङ्मय सर्वप्रथम लिखा गया है। विपुल परिमाण में लिखा गया है। किन्तु वह सब लुप्त हो गया है। किन्तु उसकी उपस्थिति की ऐतिहासिक काल में दीर्घ परंपरा रही है और इसीलिए संस्कृत एवं प्राकृतों के व्याकरण-ग्रन्थों में उसके विपुल वाङ्मय को देखते हुए उस पर अगल से लिखना पड़ा है। प्राकृत के व्याकरण-ग्रन्थों में प्रधान रूप से मागधी, अर्ध मागधी, शौरसेनी और महाराष्ट्री के सम्बन्ध में अधिक लिखा गया है। जैनों की प्राकृत तथा बौद्धों की प्राकृत अलग है। बौद्धों के प्राकृत को पालि-प्राकृत कहा गया है। इसी तरह जैनों की प्राकृत को मागधी से अलग अर्ध-मागधी, जैन महाराष्ट्री कहा गया है। प्राकृतों के प्रधान भेदों में पैशाची को स्थान नहीं मिला है। पैशाची की उपेक्षा करना कठिन था, इसलिए उस भाषा का उल्लेख, उसके व्यवहार को देखते हुए क्षेपकों की तरह अलग से जोड़े गए रूप में किया गया है। प्राकृत की मूल धारा में भी पैशाची को जगह नहीं मिली है।

3

पैशाची और उसके विविध रूपों का सर्वेक्षण सोलहवीं शताब्दी में उड़ीसा के मार्कण्डेय ने अपने '*प्राकृत-सर्वस्वम्*' ग्रन्थ में किया है। उड़ीसा के राजा मुकुन्ददेव के दरबार में रहते हुए, उन्होंने अपने इस ग्रन्थ की रचना की। उसके अनुसार भाषा के चार प्रधान भेद हैं। भाषा, विभाषा, अपभ्रंश और पैशाची हैं। पुनः भाषा के पाँच भेद, विभाषा के पाँच भेद, अपभ्रंश के तीन भेद और पैशाची के तीन भेद, इस तरह कुल सोलह भेद हो जाते हैं। कहा है

तच्च भाषा, विभाषापभ्रंश पैशाच भेदतः ।
 चतुर्विधं, तत्र भाषा, विभाषाः पञ्चधा पृथक् पृथक् ।
 अपभ्रंशास्त्रयस्तिस्त्रः पैशाच्यश्चेति षोडश ॥1॥

मार्कण्डेय ने भाषा के पाँच भेद, विभाषा के पाँच भेद अलग-अलग बतलाए अपभ्रंश के तीन और पैशाची के तीनकुल सोलह भाषाओं का विवेचन अपने ग्रन्थ में किया है। यह सारा विवेचन भौगोलिक है। भाषाओं के नामउनके भेदों के नामप्रायः भौगोलिक हैं। इस वर्गीकरण में पैशाची को अलग स्थान दिया है। उसके भेद अलग बतलाए हैं। पैशाची के स्वतंत्र रूप से ग्यारह भेदों के नाम दिए हैं। वे हैं

काञ्चीदेशीय पाण्ड्ये च पाञ्चालं गौड़ मागधम् ।
 ब्राचडं दाक्षिणात्यं च शौरसेनं च कैकयम् ।
 शाबरं, द्राविडं चैव एकादश पिशाचजाः ॥

उन्होंने पैशाची के अन्तर्गत ग्यारह भौगोलिक भेद तो बतला दिए किन्तु उनमें विचार करने योग्य तीन भेदों को प्रधान माना। कहा

कैकयं, शौरसेनं च पाञ्चालमिति च त्रिधा ।
 पैशाच्यो नागरा यस्मातोनाप्यन्या न लक्षिताः ॥

अर्थात् कैकयी, शौरसेनी और पांचाली तीन भेद प्रधान हैं। बाकी के आठ भेदों को प्रधान न मानने के कारण उनका विवेचन नहीं किया है।

4

प्राकृत भाषा की तरह पैशाची के अलग से भेद बतलाए गए हैं। पैशाची को प्राकृत से स्वतंत्र भाषा माना गया है। प्राकृत के जैसे स्वतंत्र भेद बतलाए, वैसे ही पैशाची के भी स्वतंत्र भेद बतलाए हैं और ठीक इसी तरह अपभ्रंश के भी तीन स्वतंत्र भेद बतलाए हैंनागर, ब्राचड और उपनागर। मार्कण्डेय ने कुल 20 पादों में पुस्तक का विभाजन किया है। इनमें आरम्भ के सोलह पाद प्राकृत के हैं। सत्रहवें तथा अठारहवें पाद में अपभ्रंश के तीन प्रधान भेद दिए हैं और अन्तिम दो पादों में (उन्नीस और बीस) पैशाची के प्रधान तीन भेदों का विवेचन किया है। पैशाची को अन्त में रखा गया है। वह प्रधान न होकर क्षेपक की तरह है। उसके तीन प्रधान भेदों में कैकयी, शौरसेनी और पांचाली हैं। यह ध्यान में रखने की बात है कि प्राकृत की तरह पैशाची को स्वतंत्र भाषा नाम दिया गया है। शौरसेनी प्राकृत अलग है और शौरसेनी पैशाची अलग है। इसी तरह शौरसेनी अपभ्रंश अलग है। शौरसेनी की भौगोलिक सीमाएँ अलग हैं। पैशाची की सीमाएँ अधिक व्यापक हैं। प्राकृत के समान पैशाची भी व्यापक भाषा रही है।

5

पैशाची भाषा वैदिक संस्कृत से पुरानी भाषा है। इसलिए यह कहना कि संस्कृत से पैशाची या प्राकृत भाषाओं का उद्भव हुआ है, ठीक नहीं है। इसके प्रणाम में बहुत-सी सामग्री अब मिल गई है। वैदिक संस्कृत किसी भी समय बोलचाल या व्यवहार की भाषा नहीं रही है। वैदिक संस्कृत या संस्कृत भौगोलिक नाम नहीं है। इस तुलना में प्राकृत एवं पैशाची के भेदों के नाम भौगोलिक हैं। भौगोलिक भाषा अपने देश से अधिक जुड़ी रहती है। पैशाची के भौगोलिक नाम हैं। वैदिक संस्कृत के काल में कितनी बोलियाँ प्रचलित रही होंगी, यह सब तो हमें ठीक से मालूम नहीं है किन्तु इतनी बात सच है कि पैशाची के काल की बोलियों में से एक बोली का संस्कार वैदिक भाषा के रूप में हुआ है। डॉ. हेमचन्द्र जोशी ने लिखा है

‘सरस्वतीकण्ठाभरण’ में (58,15) यह कहा गया है कि उत्तम मनुष्यों को, जो ऊँचे पात्रों का पार्ट नहीं खेलते, ऐसी भाषा बोलनी चाहिए जो एकसाथ संस्कृत और पैशाची हो। बात यह है कि पैशाची में भाषा श्लेष की चातुरी दिखाने की बहुत सुविधा है; क्योंकि *सब प्राकृत भाषाओं में पैशाची संस्कृत से सबसे अधिक मिलती-जुलती है।* वररुचि 1082 में शौरसेनी को पैशाची की आधारभूत भाषा बताता है और इस मत से हेमचन्द्र अपने प्राकृत व्याकरण के 4,323 में पूर्णतया सहमत हैं। पर पैशाची अपनी ध्वनि-सम्पत्ति के अनुसारजैसा कि हेमचन्द्र ने 4,324 में बताया हैसंस्कृत, पालि और पल्लववंश के दान पत्रों की भाषा से मिलती है। पैशाची और इससे भी अधिक चूल पैशाचिक, जिन दोनों भाषाओं को व्याकरणकार विशेष रूप से अलग नहीं समझते।”¹

6

कहना मुझे यह है कि वैदिक संस्कृत की समकालीन बोलियों में पैशाची, चूल पैशाचिक, पालि आदि भाषाएँ हैं। ये सब वैदिक संस्कृत के निकट की बोलियाँ हैं। वैदिक संस्कृत का व्यवहार करनेवाले पैशाची बोलते थे। पैशाची के प्रधान भेदों में कैकेय भाषा है। पैशाची की भौगोलिक व्याप्ति ईरान तक पश्चिम में है। उसमें अफगानिस्तान, बलूचिस्तान और ईरान तक का प्रदेश है। पैशाची की मूल प्रधान भाषा का क्षेत्र गान्धार देश रहा है। गान्धार, आज का कन्धार है और यह काबुल के निकट है। पैशाची का विस्तार बाह्यिक तक है। उसके भेदों में बाह्यिकी भी है। वह बल्ख है। वह भी उत्तर-पश्चिम में है। यों पैशाची पर विचार करते समय ईरान से सिन्धु नदी के प्रदेशों में प्रचलित भाषाओं और बोलियों पर भी विचार करना आवश्यक है। पाणिनि का शालातुर भी इसी प्रदेश में है। ईरानी भाषा के साथ वैदिक संस्कृत के जुड़े रहने का इतिहास हमें मिलता है। यद्यपि इस विषय पर अधिक सामग्री

इतिहास में नहीं मिलती तथापि डॉ. रामविलास शर्मा ने इस विषय पर पहली बार विस्तार में लिखा है। कश्मीर तक पैशाची के विस्तार को उन्होंने दिखलाया है। और यह बात वैदिक संस्कृत के काल की है। ईरान में अवेस्ता भाषा रही है और उसका सम्बन्ध वैदिक संस्कृत से रहा है।

यहाँ, यह बात ध्यान में रखने की है कि वैदिक संस्कृत की तरह अवेस्ता की भाषा भी लोकभाषा नहीं रही है। डॉ. रामविलास शर्मा लिखते हैं

“वास्तव में ईरानी भाषा-समुदाय के विशाल क्षेत्र में अनेक भाषाएँ बोली जाती थीं। समस्त ईरानी किसी समय अवेस्ता की भाषा ही बोलते थे, यह मिथ्या कल्पना है।” वर्तमान तुर्की राष्ट्र की भूमि पर अनेक आर्य भाषाएँ बोली जाती थीं, इस तथ्य का विवेचन हिली-विशेषज्ञ स्टुर्टवैण्ट ने किया है।²

डॉ. रामविलास शर्मा मानते हैं कि भारत भाषा तत्वों के निर्यात का प्रमुख केन्द्र रहा है। भारत में ऋग्वेद के अलावा सिन्धु घाटी की सभ्यता भी है।³ इसे वे स्वाभाविक मानते हैं।

7

बौद्धकाल में पैशाची लोकभाषा के रूप में ईरान से शूरसेन प्रदेश तक फैल गई थी। डॉ. हेमचन्द्र जोशी लिखते हैं

“उत्तराखण्ड के बौद्ध धर्मावलम्बियों की विवरण पत्रिकाओं में यह बात लिखी गई है कि बुद्ध के निर्वाण 116 वर्ष बाद चार स्थविर आपस में मिले थे जो संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और पैशाची भाषाएँ बोलते थे। ये स्थविर आपस में भिन्न-भिन्न वर्णों के थे। इन स्थविरों ने जो वैभाषिक की एक मुख्य शाखा के थे, आपस में पैशाची में बातचीत की।”⁴

8

बौद्धकाल में पैशाची भाषा अफगानिस्तान में थी। वैदिक संस्कृत के उद्भव काल में उसका व्यवहार होता था। ऋषि-मुनि बोलचाल में जिस भाषा का प्रयोग करते थे, वह पैशाची ही थी। सच तो यह है कि वैदिक काल से, महाभारत के काल तक और उसके बाद में समस्त बौद्धकाल में लगभग दो हजार वर्ष तक पैशाची भाषा का व्यवहार होता रहा है। भारत के पश्चिमी भाग में वह प्रधान रूप से व्यवहार की भाषा थी। प्रश्न यह है कि उसको प्राकृत क्यों नहीं कहा गया? प्राकृत से पैशाची को अलग माना गया है। आज तो पश्चिम भारत में पैशाची का अस्तित्व नहीं है। न उसका अस्तित्व अफगानिस्तान में है और न ही पाकिस्तान में है। गुणादय ने जब *बृहत्कथा* की रचना की, उस समय तक पैशाची में विपुल मात्रा में साहित्यिक रचनाएँ लिख दी

गई थीं। यों पैशाची की साहित्यिक रचनाओं का काल गौतम-बुद्ध से पहले का है और उसका काल उदयन तक पहुँचता है। गौतम बुद्ध से पूर्व उदयन तीन शताब्दी पहले रहे हैं। भारत के प्रसिद्ध विद्वान् श्रीधर व्यंकटेश केलकर (प्राचीन महाराष्ट्र ग्रन्थ में) यही मानते हैं। उनका मानना है कि पैशाची का लोक-वाङ्मय लुप्त हो गया है। वैदिक वाङ्मय लोक-वाङ्मय नहीं है। गौतम बुद्ध जिस भाषा का व्यवहार करते थे; वह पैशाची ही थी। श्रीधर व्यंकटेश केलकर लिखते हैं

“बौद्ध ग्रन्थों में जिस पन्थ का वाङ्मय सुरक्षित रहता आया है, वह पन्थ थेरवादी है। थेर का तात्पर्य स्थविर अथवा ‘वृद्ध’ अर्थात् गौतम बुद्ध के अत्यन्त निकटवर्ती शिष्य। उनके संग्रहों का काम अधिक चलता रहा है। थेरवादियों का ग्रन्थ, वह पालि का त्रिपिटक ग्रन्थ है। आज उस ग्रन्थ की भाषा को पालि भाषा कहते हैं। किन्तु लगता है कि गौतम बुद्ध की भाषा को यथावत् लिखा नहीं जा सका है। *गौतम बुद्ध स्वयं पैशाची का व्यवहार करते थे, ऐसा प्रतीत होता है।* विनीत देव (आठवीं शती ईसवी) कहता है, इन स्थविरों में पैशाची भाषा का प्रचार था। सर्वास्तिवादी संस्कृत का उपयोग करते, महासांघिक प्राकृत का उपयोग करते, सम्मिलित जन अपभ्रंश का उपयोग करते और स्थविरवादी पैशाची का व्यवहार करते थे।

लगता है कि वररुचि के काल में पैशाची प्रमुख भाषा रही है और स्वयं बुद्ध उसी भाषा में उपदेश देते थे। कदाचित् अनेक राजा पैशाची भाषा बोलते थे और प्राकृत का व्यवहार करनेवालों में पैशाची प्रतिष्ठा की भाषा मानी गई हो और पैशाची का संस्कार पालि भाषा में परिणत हुआ हो।”⁵

9

ईरान और भारत का ऐतिहासिक सम्बन्ध बतलाने के लिए डॉ. श्रीधर व्यंकटेश केलकर ने बेहिस्तान के अभिलेख का मूल पाठ दिया है। उसकी संस्कृत छाया (अवेस्ता कहना चाहिए) दी है और उसके आगे उसका मराठी अर्थ दिया है। यह अभिलेख पूरे ‘प्रकरण 29’ में है। पृष्ठ 207 से 232 तक है। विशेष बात यह है कि उसकी भाषा ‘अवेस्ता’ की बोली है। अवेस्ता की भाषा से परिचित पारसी व्यक्ति नेशापुरजी कावसजी होडीवाला ने यह अनुवाद (संस्कृतिकरण के रूप में अवेस्ता की भाषा को आधार मानकर) किया है। डॉ. केलकर की टिप्पणी इस अनुवाद पर यह है कि इस अभिलेख का ऐतिहासिक महत्त्व है। इस अनुवाद को दोषपूर्ण मानते हुए भी, उसे जस-का-तस दिया है। मराठी अर्थ, उसका अपना है। नीचे मैं उसका कुछ अंश दे रहा हूँ। मराठी के स्थान पर उसका हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत कर रहा हूँ

पंक्ति स्तम्भ पहला

मूल पाठ	संस्कृतिकरण	अनुवाद (हिन्दी में)
1. अहम् दारयव (ह) उश् क्षायथिय (:) वक्रक (:) क्षायथिय (:) क्षायथिया नाम् क्षायथियः दह्युनाम् विश्तास्पह्या पुश्रः अशमिह्या नपा हखामनिशिय (:) ×	1. अहं दारयवहुः क्षत्तियाः वक्रकः क्षत्रियः पार्से क्षत्रियः दस्यूनां विश्वतापस्य पुत्रः अशमिस्य नपुता हरवा मनिशियः ×	1. मैं दारयवहु राजा, राजाका बलवान राजा विश्वतास्पका पुत्र (व) अशमि का पौत्र, हरनामनिशिय (हूँ) ×
4. थातिय इ. मना तौ मायात्यैय परुवम् क्षायथिया अह(न्) अदम् नवम (:) 9 दुविता परनम् वयम् क्षायथिया अमह्य ×	4. शास्ति. अष्ट मम तोक्माः त्वे पूर्वम् क्षत्रियाः आसन् अहं नवमः द्वितार्पणम् वयं क्षत्रियाः स्मसि ×	4. आज्ञा. पहले जो राजा थे, वे मेरे आठ पूर्वज थे। मैं नौवाँ हूँ। दोनों घरानों में मिलकर हम नौ राजा हुए। ×
5. थातिय इ. वशना अहुरमज्जदाह अदम् क्षायथिय अमिय् अ(ह) उर्मह्दा क्षत्रं मना फ्रावरः ×	5. शास्ति. वासना अहु- रमज्जस्य अहं क्षत्रियः अस्मि अहरमज्जदः क्षत्रं मम प्राभरत् ×	5. अहुरमज्ज की कृपा से मैं राजा हूँ। अहुरमज्ज ने मुझे राज्यत्व प्रदान किया। ×
6. (थातिय इ.) इमा दह्यावः (य) मना यति- याइशन् वाशुना अ(ह) उरमज्जदाह(ः) अदम्शाम् क्षायथिय (:) आहम् फ्रहरवम् दह्यावः(ः) 23 ×	6. शास्ति. इमाः द स्यवः त्याः मम (मां) प्रत्येषन् वासना अहु- र्मज्जस्य अहं क्षत्रियः आसम् प्रसर्वम् दस्यवः 23 ×	6. आज्ञा. मेरे पास एकत्रित 23 देश आ गए, जिनका मैं अहुरमज्ज की कृपा से राजा हो गया। ×
11. (थातिय, इ.) पसावः 1 मर्तियः(ः) मगुश आहः(ः) गौमातः(ः) नाम(न्) हौव् उदपतता हचा पैशियः (ह) उबादाया अरकाद्रिश् नाम(न्) कौफ (ः) हचा अवदश् (ः) वियरवह्य माह्या 14	11. शास्ति. पश्चा वा 1 मर्त्यः मगुः आस गौमातः नाम्ना असौ अदपतत् सचा पैशिया- हुवादाया अरकाद्रिः नाम्ना कूपकः सचा अतः वियरवनस्यं मासस्य	11. आज्ञा. बाद में एक 'मग' मनुष्य गौमात नाम का था। वह पैशियाहु- वाद से उठ गया। अरकाद्रि नाम का पर्वत (है); वहाँ से वियखन् महीने के चौदह दिवस

रौचाविश् थक्तता आहः(ः), यदिय उदपतता, हौव कारह्या अवथा अदुरुजियः बर्दिय (ः) अमिय् कुरौश् पुश्रः(ः), क(न्) बुजियह्या ब्राता पसावः(ः) कार (ः) हरुवः(ः) हमि थियः(ः) अवव (ः) हचा क (न्) बुजियाः(ः), अविय अवं अशियव(न्), उता पार्सः(ः) उता माद (ः) उता अनिया दह्याव (ः) क्षत्रं हौव् अग्रवायता गर्मपदह्या माह्य 9 रौचाविश् थक्तता आह (ः) क्षत्रं अग्रवायता पसाव (ः) क (न्) बुजिय (ः) (ह) उवामर्शियुश् अप्रियता	14 रुचामिः (रुग्भिः) सक्ता(भिः) आस यदि उदपतत् असौ कारस्य एवं अ थ अद्रुह्यत् अहं बर्दियः अस्मियः कुरोः पुत्रः कं बुजियस्य भ्राता पश्चा वा कारः सर्वः असै त्रेय अभवत् सचा कंबुजियेन अभि एवं अच्यवन् उत पार्सान् उत मादान् उत अन्यान् देशान् क्षत्रं असौ अग्रभयत् गर्मपदस्य मासस्य 9 रुचिभिः (रुग्भिः) सक्ता (भिः) आस क्षत्रं अग्र भयत् पश्चा वा कंबुजियः स्वमृत्युना अप्रियत्	होने के बाद उसने, विद्रोह किया। उसने सेना को इस तरह फँसाया कि मैं कुरु का पुत्र और कंबुजिमा का भाई, जो बर्दिय, वह हूँ। बाद में सभी सेना कंबुजिया के शत्रु हो गए और उससे पार्स, माद (पार्शिया और मांडिया) और अन्य प्रदेशों को चले गए। उसने उन प्रदेशों का राज्य ले लिया; गर्मपद महीने के नौ दिवस पूर्ण होने पर उसने वे राज्य ले लिए। बाद में कंबुजिय स्वमृत्यु को प्राप्त हुआ (उसने आत्महत्या की)। ⁶
---	---	---

10

बेहिस्तान के इस अभिलेख का कालनिर्णय कठिन है। बहुत से लेखक इसे ईसा पूर्व 100-150 वर्ष पुराना मानते हैं। कुछ लेखक ईसा पूर्व एक हजार वर्ष मानते हैं। यह सब ईरानी धर्मग्रन्थ (अवेस्ता) के कालनिर्णय पर निर्भर है। अहुरमज्ज का उल्लेख इस अभिलेख में जगह-जगह है। झरथुष्ट्र का समय निश्चित हो तो इस अभिलेख का कालनिर्णय हो सकता है। माननेवाले इसे गौतम बुद्ध के काल से पहले का मानते हैं। ऐसा होने पर भी इस अभिलेख के आधार पर ऐतिहासिक निर्णय लेने में सहायता मिलती है। एक बात तो स्पष्ट है कि इस अभिलेख की भाषावैदिक संस्कृत की भाषा से साम्य रखती है। दूसरी बात यह है कि यह भाषा बोलचाल में (बोली भाषा) अपने काल की जीवित भाषा) प्रयुक्त भाषा है। अवेस्ता की भाषा परिष्कृत भाषा है।

11

इस अभिलेख में 'पैशियाहुवाद' का उल्लेख है। वह पेशावर है। इस आधार पर पैशाची को पेशावर की भाषा कहा गया है। वह कैकेय प्रदेश है। पैशाची का प्रधान

भेद कैकेयी है। इस नाते पैशाची को उक्त स्थान की मूल भाषा कहा गया है। डॉ. केलकर ने यह अनुमान किया है। (प्राचीन महाराष्ट्र, पृ. 207)। वे यह भी अनुमान करते हैं कि पैशाची एवं पेशावर दोनों ही शब्द एक दूसरे से सम्बद्ध होने चाहिए।

इस अभिलेख में दारयवहु के साम्राज्य में 23 देशों के नाम हैं। उन देशों को दारयवहु ने जीत लिया था। वे 23 देश इस प्रकार हैं। 1. पार्सः (= फारस) / 2. (ह) उव्जा (ः) (= मुशियाना) / 3. बाबिरुशु (= बाबिलोन) / 4. अयुश (= असीरिया) / 5. अरबाय (क) (अरबस्तान) / 6. मुद्रायः (= मिश्र, इजिप्त) / 7. समुद्र का या समुद्र के किनारे का भूभाग स्पर्द (ः) (= सार्डीस, लीडिया की राजधानी) / 8. यौना (= आयोनियन देश) / 9. माद (ः) (= मीडिया) / 10. अर्मिन् (ः) (= अर्मीनिया) / 23. मक (ः) (= मकान)”

प्राचीन महाराष्ट्र, पृ. 207

इन 23 राज्यों में भारत नहीं है। पेशावर में उस समय मगों का राज्य था। मग लोग भारत के निवासी थे। डॉ. रामविलास शर्मा लिखते हैं

“पुरानी फारसी में मगु शब्द उन लोगों के लिए आता है जो पुरोहित वर्ग के थे। ये लोग उस प्रदेश में रहते थे जो अंग्रेजी में मीडिया कहलाता था। मग लोगों का सम्बन्ध मगधवाले मगों से है। मघ का एक प्रतिरूप मध था। मघ में जो महत्ता और शक्ति का भाव है, वही मध में था। पुरानी फारसी में इसका रूपान्तर मथ है; मथिश्त का अर्थ हुआ सर्वाधिक महान। अन्य रूपान्तर मद था। पुरानी फारसी में माद शब्द उन लोगों के लिए प्रयुक्त होता था जो मीडिया के रहनेवाले थे। सामान्य जन समाज था माद, उसके पुरोहित थे मगु; मग औ मद के स्रोत हैं मघ और मध। यूनानी भाषा में माद जनों को मेनोइ कहते थे। मद से मीडिया, मीडियन आदि शब्द बने हैं।”⁷

1 2

मगों पर डॉ. केलकर ने विस्तार से लिखा है। प्रस्तुत प्रसंग में इतना कहना है कि ईरान का सम्बन्ध मगध तक था और वहाँ के मग पेशावर पहुँच गए थे और राज्य करते थे। इन मगों को दारयवहु ने परास्त किया और वहाँ पर अपना राज्य स्थापित किया। पेशावर के मगों की राजभाषा पैशाची रही है। यह पैशाची, वैदिक संस्कृत से मिलती-जुलती है। इस भाषा को उस समय खरोष्ठी लिपि में लिखा जाता था। ईरान और उसके पूर्व के देशों में सिन्धु नदी के तट तक के देशों में खरोष्ठी लिपि का प्रचलन था। पैशाची में उस समय जो लिखा गया, वह सब खरोष्ठी में लिखा जाता होगा। उक्त लिपि को ठीक से पढ़ा नहीं गया इसीलिए पैशाची के लोक-वाङ्मय का लोप हुआ है। हम देखते हैं कि बौद्धकाल में पैशाची का व्यवहार लोकभाषा (सम्पर्क भाषा के रूप में) भारत में होने लगा था। उस भाषा के महत्त्व को प्राकृत भाषा के व्याकरण लिखनेवालों ने जान लिया और उसका अलग से उल्लेख अपने व्याकरण-ग्रन्थों में किया। उसका नामकरण पहले ही हो गया था।

1 3

पैशाची का नाम लिए बिना डॉ. रामविलास शर्मा पैशाची को भारतीय प्राकृत कहते हुए उसकी तुलना तुखारी भाषा से करते हैं। लिखते हैं

“चीनी तुर्किस्तान में तुखारी भाषा का व्यवहार होता था, उसी प्रदेश में एक भारतीय प्राकृत का व्यवहार भी होता था जिसके दस्तावेज खरोष्ठी लिपि में हैं। तुखारी भाषा के दस्तावेज छठी से दसवीं शताब्दी के हैं, खरोष्ठी लिपिवाले दस्तावेज उससे पहले तीसरी शताब्दी के हैं। दस्तावेजों के इस काल-भेद से यह सिद्ध नहीं होता कि तुखारी की अपेक्षा यह प्राकृत अधिक प्राचीन है। यह अवश्य सिद्ध होता है कि प्राचीन लक्षणोंवाली तुखारी भाषा तीसरी शताब्दी से पहले की है, भले ही उसमें लिखा हुआ कोई और पुराना दस्तावेज सुलभ न हो। अन्य भारतीय प्राकृतों के समान यह प्राकृत भी (अर्थात् इसे पैशाची कहना चाहिए) शब्द भण्डार और व्याकरण में अधिकतर संस्कृत का अनुकरण करती है, यद्यपि इसमें कुछ विशेषताएँ आधुनिक भाषाओं की हैं। यह तथ्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है कि चीनी तुर्किस्तान में जब तुखारी का व्यवहार हो रहा था, उससे बहुत पहले वहाँ एक भारतीय प्राकृत का व्यवहार हो चुका था। तुखारी के दस्तावेज छठी शताब्दी से शुरू होते हैं। 300 साल पहले खरोष्ठी लिपि में वहाँ एक भारतीय प्राकृत का व्यवहार हो चुका है। लगभग 500 वर्ष तक मध्यएशिया के एक क्षेत्र में उन भाषाओं का धार्मिक राजनीतिक कार्यों के लिए प्रयोग होता रहा जिसका गहरा सम्बन्ध भारत से रहा है। भाषा विज्ञानी तुखारी को इण्डोयूरोपियन समुदाय के पूर्वी छोर की अभातीय भाषा मानते हैं किन्तु उक्त प्राकृत को उन्हें भारतीय मानना ही पड़ता है। यदि तीसरी शताब्दी में एक भारतीय भाषा का व्यवहार चीनी तुर्किस्तान में होता है, तो सम्भावना इसी की है कि छठी शताब्दी में वहाँ जिस तुखारी भाषा का व्यवहार हुआ, वह भारतीय उद्भव की भाषा थी। दोनों भाषाओं का व्यवहार करनेवाले बौद्ध थे। भारत के सम्पर्क में आए बिना चीनी तुर्किस्तान के निवासियों को बौद्ध धर्म की प्राप्ति न हो सकती थी। गौतम बुद्ध के जन्म के बाद इस तरह का सम्पर्क था, इसमें तो सन्देह ही नहीं है, उनके जन्म से पहले भी यह सम्पर्क था, इसके अनेक लक्षण हैं।”⁸

1 4

यों यदि भारतीय प्राकृतको पैशाची मान लिया जाए तो पैशाची का भौगोलिक विस्तार चीनी तुर्किस्तान तक मानना पड़ता है। दूसरी ओर सिन्धु नदी के तट तक तो

उसका विस्तार था। सिन्धु नदी के पूर्व में जमुना तक शौरसेनी का विस्तार था। इस तरह पैशाची, शौरसेनी का संस्कार प्राप्त कर रही थी। मार्केण्डेय के अनुसार पैशाची के तीन प्रधान भेद ऊपर बतलाए गए हैं, उनमें कैकेय के बाद दूसरा भेद शौरसेनी पैशाची का है। तीसरा भेद पांचाल पैशाची का है। पैशाची को संस्कृत ही नहीं अपितु प्राकृतों के रूपों से संबद्ध मानने के प्रयत्न व्याकरण-ग्रन्थों में क्यों हुए? इसके कारण भाषा-समुदायों के आपसी सम्बन्धों में खोजना होगा। ईसा की आठवीं शती में जैन साहित्यकार उद्योतन सूरी ने कुवलयमाला ग्रन्थ में प्राकृत की कथा दी है। उस कथा का संक्षिप्त विवरण डॉ. माधव मुरलीधर देशपाण्डे ने 'संस्कृत आणि प्राकृत भाषा' (मराठी पुस्तक) में दी है। उस कथा को प्रस्तुत कर रहा हूँ। उक्त कथा में पैशाची का उल्लेख है

“एक राजपुत्र पेड़ के नीचे बैठा हुआ था। उस समय उसने संभाषण (आपस की बातचीत) सुना। वह उक्त भाषा के सम्बन्ध में तर्क करने लगा। प्रथम तो वह कहता है कि यह संभाषण संस्कृत में नहीं है क्योंकि संस्कृत तो अत्यन्त दुर्बोध भाषा है और कठिन भी है। दुर्जनों के हृदय सदृश कठोर है। यह संभाषण प्राकृत में भी नहीं है क्योंकि प्राकृत सज्जनों के हृदय की तरह सुखद रहती है और उसमें प्रकृति का सुन्दर वर्णन रहता है और प्राकृत शब्द संस्कृत जैसे एक दूसरे से सन्धि से युक्त नहीं रहते। यह संभाषण अपभ्रंश में भी नहीं है क्योंकि अपभ्रंश में शुद्ध-अशुद्ध संस्कृत और प्राकृत का मिश्रण रहता है। वह तो बाढ़ आनेवाली पानी सदृश अनियंत्रित रहती है किन्तु प्रेमी और प्रेमिका के प्रेमकरुह सदृश सुन्दर है। ये संभाषण इन तीनों प्रकार में ठीक से बैठते नहीं इसलिए इसे पैशाची भाषा कहना अधिक ठीक होगा। राजपुत्र का निर्णय था कि वह पैशाची में संभाषण होगा।”⁹

1 5

विशेष बात यह है कि पैशाची को अन्य भाषाओं से अलग बतलाया गया है। गुणाढ्य की पैशाची को इसी तरह अलग माना गया है। प्राकृतों में उसकी गणना नहीं है। प्राकृत के रूपों का जैसे सम्मान हुआ है, वह सम्मान भी पैशाची को नहीं मिला। पेशावर, चीनी तुर्किस्तान, ईरान में जो सम्मान पैशाची को मिला, वह सम्मान पैशाची को भारत में नहीं मिला। विशेष रूप से गुणाढ्य के काल में उसे सम्मान नहीं मिला। बाद में विद्वान् भूल गए कि पैशाची कैकेय की भाषा है। वे उसे विन्ध्याचल के पास की भाषा मानने लगे। पिशाच भाषा कहने लगे। राजशेखर ने तो उसे भूत भाषा कह दिया है। यह सब क्यों हुआ? जिस भाषा के माध्यम से बौद्ध धर्म का विस्तार मध्यएशिया के देशों की भाषा में हुआ, उक्त भाषा के प्रति अवधारणा बदल गई।

1 6

गुणाढ्य की वृहत्कथा को पैशाची की एकमात्र साहित्यिक रचना के रूप में हम जानते हैं। मूल ग्रन्थ तो लुप्त है। उसके संस्कृत अनुवाद उपलब्ध हैं। मराठी में कथासरितसागर का अनुवाद पाँच खण्डों में उपलब्ध है। वह सोमदेव द्वारा अनूदित कथासरितसागर का अनुवाद है। उसके कथापीठ लंबक के आठवें तरंग में गुणाढ्य की कथा है। गुणाढ्य के दो शिष्य गुणदेव और नन्दिदेव थे। शिष्यों ने प्रस्ताव किया कि उक्त कथा सातवाहन राजा के योग्य है। गुणाढ्य ने शिष्यों की बात मान ली। अपने दोनों शिष्यों को लेकर राज नगर को गया। वहाँ पर गुणाढ्य तो देवी के मन्दिर में ठहर गया। वे दोनों शिष्य सातवाहन राजा के दरबार में पहुँच गए। उनके साथ वह महाकथा का ग्रन्थ था। उन्होंने वह ग्रन्थ राजा को दिखलाया और कहा 'यह गुणाढ्य की रचना है किन्तु राजा उस समय स्वयं अपनी विद्या से अभिभूत था। उसमें मत्सर की भावना थी। उसे ये दोनों ही शिष्य पिशाच की तरह दिखलाई दे रहे थे। उसमें फिर वह ग्रन्थ पैशाची में लिखा हुआ था। फिर क्या? राजा ने कहा ' इस महाग्रन्थ में सात लाख श्लोक हैं किन्तु पैशाची भाषा में हैं। यह भाषा मात्र नीरस लगती है। सिवा इसके यह रक्त से लिखी गई है। इस पैशाची कथा का धिक्कार हो।' शिष्यगण चकित रह गए। वे अपना ग्रन्थ लेकर गुणाढ्य की ओर गए और सारा वृत्त कह सुनाया। सुनकर गुणाढ्य का मन खिन्न हो गया। खिन्न भावना से वह वहाँ से निकट के वन की पहाड़ी पर गया। प्रदेश रमणीय था और एकान्त स्थल था। वहाँ वह ग्रन्थ का एक-एक पृष्ठ उठाकर पढ़ने लगा। उसे पशु-पक्षी सुन रहे थे। पढ़ना पूरा होने पर उस पृष्ठ को उसने अग्निकुण्ड को समर्पित कर दिया। उसके शिष्यों की आँखों से अश्रुधारा प्रवाहित हो रही थी। विवश थे। उन दोनों ने उसे अग्निकुण्ड को पृष्ठ समर्पित करने से रोका। अब तक उसने नरवाहनदत्त मात्र का चरित्र जलाया नहीं था। सात कथाओं में से एक कथा के एक लाख श्लोक थे। गुणाढ्य जब कथावाचन कर रहा था, उस समय वन के पशु, भैंसे, हिरन, सुअर आदि सब मंडलाकार रूप में उसे घेर कर खड़े थे और कथा सुन रहे थे। कथा सुनने के लोभ में उन्होंने घास खाना बन्द कर दिया था। उनकी आँखों से भी अश्रुधारा बह रही थी। वे सब स्तब्ध और निश्चल बैठे थे। ठीक उसी समय राजा अस्वस्थ हो गया। वैद्यों ने निदान किया और कहा शुष्क मांस खाने के कारण ऐसा हुआ है। राजा ने रसोइयों को बुलवाया और पूछा। उन्होंने कहा 'हम क्या करें? मांस लानेवाला व्याध हमें शुष्क मांस दे रहा है। उसने व्याध को बुलवाया। उसने कहा 'इस समय निकट के वन में अग्निकुण्ड जलाकर एक ब्राह्मण बैठा हुआ है। वह अपने ग्रन्थ का पूरा पृष्ठ पढ़कर सुनाता है और पढ़े हुए पृष्ठों को अग्नि को समर्पित कर देता है। उसके उस कथावाचन को वन के पशु सुनते हैं। उन्होंने घास खाना छोड़ दिया है। इसीलिए उनका मांस शुष्क होता जा रहा

है। उस चमत्कार को सुनकर राजा स्वयं उस वन में गया। उसने देखा सचमुच वह पृष्ठ अग्निकुण्ड को समर्पित कर रहा है। उसकी जटाएँ बढ़ गई थीं और पशुओं की आँखों से भी अश्रुधारा प्रवाहित हो रही थी। गुणाद्वय का शरीर भी कृश हो गया था। पशुगण उसे घेर कर बैठे हुए थे। राजा ने तब गुणाद्वय से सारा वृत्त सुनाने को कहा। गुणाद्वय ने अपना सारा वृत्त सुनाया। राजा को लगा, गुणाद्वय तो माल्यवान गण का अवतार है। राजा ने अपना माथा गुणाद्वय के चरणों में रखा। तब उसने कहा कि श्री शंकर ने अपने मुख से जो कथा सुनाई है, वह मुझे सुनाइए। गुणाद्वय ने कहा 'हे राजा मैंने तो सात लाख श्लोक भेजे थे किन्तु उनको अस्वीकार कर दिया गया। सात कथाओं में से 6 कथाएँ तो मैंने अब तक अग्नि को समर्पित कर दिए हैं। छः लाख श्लोक तो भस्म हो गए हैं। अब सातवीं कथा, एक लाख श्लोकों की शेष रह गई है। वह है। स्वीकार कर ले। मेरे शिष्य इसे संस्कृत में तुझे समझाकर कहेंगे। उसके बाद शेष कथा लेकर राजा लौट गया। बाद में उसने दोनों शिष्यों को बुलवाया। उनका सम्मान किया। गुणाद्वय ने तो बाद में समाधि ले ली थी। वह शापमुक्त हो गया था और उसे स्वर्ग का अपना पद मिल गया था। राजा ने शिष्यों से सारा वृत्त जानकर आरम्भ का कथापीठ लिखने को कहा। इस कथा पीठ केलंबक के आठ तरंग हैं। उन आठों तरंगों में से ऊपर दी गई कथा अन्तिम और आठवें तरंग की है।

1 7

गुणाद्वय ने कथापीठ के सातवें तरंग में पिशाच भाषा के सम्बन्ध में बतलाया है

विंध्याटवीं प्रविष्टोऽहं, त्वांद्रष्टुं भीषणाभिमान् ॥
पुलिंद वाक्या दासाद्य सार्थं दैवात् कथंचन ॥
इह प्राप्तोऽहम द्राक्षं पिशाचान् सुब हून हम् ॥
अन्योन्यालापमे तेषां दूरादआकर्ण्य शिक्षिता ॥
मया पिशाच भाक्षेयं मौनमोक्षस्य कारणम् ॥
उपगम्य ततश्चैतां त्वां श्रुत्वोज्जयिनी गतम् ॥
प्रतिपालितवान अस्मि यावद अभ्यागतो भवान् ॥

कथासरितसागरकथापीठ लंबकतरंग 7, 25 से 28

इसमें गुणाद्वय ने पैशाची भाषा को विंध्याटवी में दिखलाया है। तदनुसार विद्वानों ने मान लिया कि पैशाचीपिशाचों की भाषा है, और उसका मूल स्थान विंध्याचल के आसपास कहीं है। वे उसे कैकेय की भाषा, मानने के लिए तैयार नहीं हैं। किन्तु ऐसे विद्वान् भी हैं, जो ईरान से विंध्याचल तक पैशाची का विस्तार मानते हैं।

1 8

बेहिस्तान का अभिलेख पीछे (कुछ अंश) उद्धृत है, उसकी भाषा अवेस्ता की भाषा का बोलचाल का रूप है। उसको और उसके अनुवाद को देखकर (अवेस्ता की भाषा में) लगता है कि वैदिक संस्कृत से उसका मेल बैठता है। इसी तरह अशोक के समय के उत्तर पश्चिम के अभिलेखों को देखें तो उन अभिलेखों की भाषा भी प्राकृत न होकर पैशाची भाषा है। ये अभिलेख भी खरोष्ठी में लिखे हुए मिलते हैं। अशोक के समय का एक ऐसा ही अभिलेख उद्धृत कर रहा हूँ

(शाहबाजख़ी)

1. देवानां प्रिय (द्र) शि रज सवत्र इच्छति सत्र-
2. प्रपंड वसेयु (।) सवे हि ते सयमे भव-शुधि च इच्छति (।)
3. जनो चु उचवुच-छंदो उचवुच-रगो (।) ते सत्रं व एकदेश व
4. पि कर्षति (।) विपुले पि चु दने यस नास्ति सयम भव-
5. शुधि किद्रजत द्विद-भतित निचे पदं (।)

अनुवाद

1. देवों का प्रिय प्रियदर्शी अशोक राजा चाहता है कि
2. सर्वत्र सब पाण्ड (पन्थवाले) वास करें। क्योंकि वे सभी (पाण्ड या पन्थ) संयम और भावशुद्धि चाहते हैं।
3. (अन्तर इस कारण होता है कि जन (मनुष्य) ऊँच-नीच विचार के और ऊँच-नीच राग के (होते हैं)। इससे वे पूरी तरह (अपने कर्तव्य का पालन) करेंगे अथवा (उसके) एक देश (अंश) का (पालन) करेंगे।
4. जिसका दान विपुल है, (किन्तु जिसमें) संयम,
5. भावशुद्धि, कृतज्ञता और दृढ़भक्ति नहीं है, (ऐसा मनुष्य) अत्यन्त नीच है।”¹⁰

1 9

डॉ. परमेश्वरीलाल गुप्त ने अपनी टिप्पणी में इन अभिलेखों के सम्बन्ध में कहा है

“उसने (अशोक ने) अपने राज्य में स्थान-स्थान पर धर्ममहामात्राओं की नियुक्ति तो की ही, साथ ही समाज के वर्ग विशेष और परिवार में अलग से धर्मायुक्त नियुक्त किए। इनके अतिरिक्त उसने कुछ स्थान विशेष के लोगों के बीच विशेष रूप से इनकी नियुक्ति की आवश्यकता का भी अनुभव किया।

ऐसे लोगों में यवन (यूनानी), गान्धार, कम्बोज (पूर्वी अफगानिस्तान), राष्ट्रिक (दक्षिण-पश्चिमी भारत), पैठनिक (गोदावरी काठे के निवासी) तथा अपरान्त (पश्चिमी

भारत) वासियों का उल्लेख है। कुछ विद्वान् अपरान्त का तात्पर्य पश्चिमी भारत का अपरान्त प्रदेश से न लेकर सीमा के बाहर के निवासी करते हैं और इस प्रकार इन सब लोगों को वे अशोक की राज्यसीमा के बाहर होने का अनुमान करते हैं। किन्तु पश्चिमोत्तर भारत में अशोक की सीमा शाम (सीरिया) को छूती थी। यह तृतीय अभिलेख तथा अफगानिस्तान से प्राप्त आरमाइक और यवन अभिलेखों से स्पष्ट प्राप्त होता है। और इस सीमा के भीतर यवन, गान्धार और कम्बोज सभी समाहित हैं।¹¹

20

नमूने के रूप में एक ही अभिलेख ऊपर शाहबजगढ़ी का दिया है। ऐसे अभिलेख और भी हैं।

उत्तर-पश्चिम में अशोक का राज्य जहाँ-जहाँ था वहाँ-वहाँ पर उस समय के अभिलेख पैशाची में थे और खरोष्ठी लिपि में लिखे हुए थे। सिन्धु नदी के पार के प्रदेशों में प्राकृत का कोई रूप नहीं था। वहाँ पैशाची को ही प्राकृत का रूप मानना चाहिए। ईरान के आक्रमण होते रहे हैं किन्तु उन्हें सिन्धु नदी पर ही रोक दिया गया था। अल्पकाल के लिए वे मथुरा तक (शूरसेन प्रदेश तक) पहुँचे भी हैं किन्तु उनका शासन इस प्रदेश पर नहीं रहा है। इसके विपरीत अशोक उत्तर-पश्चिम की सीमाओं का अतिक्रमण कर आगे बढ़ गया था। उसके उपलब्ध अभिलेख इस बात के प्रमाण हैं।

21

आज यदि वैदिक संस्कृत की भाषा पर विचार करें तो अवेस्ता ही नहीं, पैशाची के साथ भी वैदिक संस्कृत के सम्बन्ध बतलाने के प्रयत्न हो सकते हैं। अभिलेखों की भाषा से वैदिक संस्कृत मेल खाती प्रतीत होगी। वैदिक संस्कृत से लौकिक संस्कृत तक की यात्रा स्पष्ट नहीं है। पाणिनि उत्तर पश्चिम का निवासी था और वह स्वयं पैशाची जानता था। जानता ही नहीं, वह उसका व्यवहार भी करता था। उसने भारत के प्रदेशों की यात्राएँ की थी। उसके समय तक संस्कृत भाषा ने लौकिक रूप धारण कर लिया था। पाणिनि की संस्कृत में, (लौकिक संस्कृत में कहिए) स्थानीय रूपों की खोज कठिन कार्य है। लौकिक संस्कृत के भौगोलिक भेद नहीं किए गए हैं। लौकिक संस्कृत की भौगोलिक व्याप्ति (स्तरीय रूप में व्याप्ति) हमें चकित कर देती है। किन्तु इस रूप तक पहुँचने में वैदिक संस्कृत से विशेष सहायता जिस प्रकार से लेनी चाहिए थी, वह नहीं ली जा सकी। वैदिक संस्कृत और लौकिक संस्कृतदोनों का अध्यापन उदीच्य में होता था। कश्मीर उस समय उदीच्य का विशेष केन्द्र था। ऐसे केन्द्र पेशावर में भी रहे हैं। उन सब पर अभी तक विशेष खोज नहीं हुई है। उत्तर-पश्चिम जो वैदिक संस्कृत से लौकिक संस्कृत तक की यात्रा का क्रीड़ा-स्थल रहा है, वहाँ से आज तो

वैदिक संस्कृत और लौकिक संस्कृत का लोप हो गया है। इसे पहचानने की आवश्यकता है। इस पहचान से पैशाची के महत्त्व को ठीक से आंका जा सकेगा।

सन्दर्भ

1. प्राकृत भाषाओं का व्याकरण, मूल लेखक : आर पिशल, अनुवादक : डॉ. हेमचन्द्र जोशी, बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद, पटना, प्रथम संस्करण : 1958, पृ. 55 (विषय प्रवेश)।
2. भारत के प्राचीन भाषा परिवार और हिन्दी-2, डॉ. रामविलास शर्मा, प्रथम संस्करण 1980 ई., राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली-110002, पृ. 271।
3. वही।
4. प्राकृत भाषाओं का व्याकरण, पृ. 56।
5. प्राचीन महाराष्ट्र (आदि पर्व. सातवाहन पर्व), डॉ. श्रीधर व्यंकटेश केलकर, (मराठी ग्रन्थ), वरदा बुक्स, 'वरदा' 307-1, सेनापति बापट मार्ग, पुणे 411-016, दूसरा संस्करण 1787 ई., पृ. 377।
6. प्राचीन महाराष्ट्र (आदि पर्व. सातवाहन पर्व), पृ. 207 तथा 211।
7. भारत के भाषा परिवार और हिन्दी, भाग 2, पृ. 283।
8. उपरिवत, पृ. 223।
9. संस्कृत आणि प्राकृत, डॉ. मुरलीधर माधव देशपाण्डे, शुभदा सारस्वत प्रकाशन, पुणे, प्रथम संस्करण 1995 ई. पृ. 272 तथा 273।
10. प्राचीन भारत के प्रमुख अभिलेख भाग-1, (मौर्यकाल से गुप्त-पूर्व कुषाण काल तक), डॉ. परमेश्वरी लाल गुप्त, द्वितीय संस्करण 1988 ई., विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी-221001, पृ. 26
11. वही, पृ. 23 तथा 24।

राम को न भूलो!

शंकर पुणतांबेकर*

मेरी वह कथा स्थानीय आकाशवाणी केन्द्र से लौट आई, तो आश्चर्य हुआ। मैंने वह दो-चार लोगों को दिखाई जिनमें एक कटु स्तर के राष्ट्रीय आलोचक भी थे। सभी ने रचना को स्तरीय बतलाया। कटु आलोचक ने भी। कटु आलोचक ने तो कहा कि रचना स्तर की ही है तभी आकाशवाणी ने नहीं ली है।

मैंने उनके कथन को हँसी में लिया। किन्तु मेरा दोस्त राजाराम बोला कि सम्माननीय आलोचक महोदय ठीक ही कह रहे हैं। तुम इस रचना को फिर से गिराकर लिखो।

मुझे नाम और पैसे का लालच था, सो मैंने रचना को सचमुच गिराया। गिराकर राजाराम के पास ले गया। राजाराम ने कथा सुनकर कहा और गिराओ। और गिराकर ले गया तो फिर बोला और गिराओ। मैंने कहा अब और नहीं गिरा सकता भाई! इस पर वह बोला, नहीं गिरा सकते तो लेखन में तुम्हारे सपने कभी पूरे नहीं हो सकते।

मैंने रचना काफ़ी कोशिश के बाद जितना बन सकता था फिर गिराई। और सचमुच वह आकाशवाणी को पसन्द आई। प्रोग्राम अधिकारी ने कहा, इसे कहते हैं रचना!

एक दिन अधिकारी का पत्र मिला आप अपनी कथा के सम्बन्ध में मुझसे मिलिए। मैं मिलने गया। अधिकारी बोला, आपकी कथा के जो दो पात्र हैं राम और विनय, उनमें से आप एक को अनवर बना दीजिए, इससे कथा में 'राष्ट्रीय भाव' आ जाएगा। मैंने कहा, मेरे लिए राम और विनय मानव हैं, कोई **क** और **ख** या अनवर और अख़्तर भी। 'मानवीय धरातल' से आप 'राष्ट्रीय धरातल' पर आते हैं, तो आपमें यह जातिवाद क्यों पैदा होता है कि एक हिन्दू हो, एक मुसलमान, एक ईसाई। आपको 'राष्ट्रीय भाव' ने घोर जातिवादी बना दिया है। खोजते हैं कि इनमें बौद्ध है या नहीं, सिक्ख है या नहीं, पारसी है या नहीं?

अधिकारी मेरी बात सुनकर हँसा और बोला, आपकी-जैसी कच्ची उम्र में मैं भी यही सोचता था भाई! ऑफिस के बाहर आज भी कभी-कभी इस कच्चेपन में पहुँच

* शंकर पुणतांबेकर हिन्दी के जाने-माने लेखक हैं।

जाता हूँ। और इस परिपक्वता से कहीं ज्यादा वह कच्चापन भला लगता है। खैर छोड़िए इन बातों को। कथा के एक पात्र को आप मुसलमान बना ही दीजिए। तब तो यह कथा हमारे लिए इतनी ऊँची उठ जाएगी कि हम इसे टीवी के लिए भी ले लें।

टीवी के नाम से मैं पिघल गया और बोला, ठीक है आप इसके विनय को अनवर बना दीजिए। विनय को वैसे भी कोई उज्र नहीं होगा क्योंकि वह किसी धर्म का नहीं है।

इसके बाद एक दिन अधिकारी ने फिर बुलाया। इस बार कहा देखिए, हम विनय का नाम अनवर नहीं रख रहे हैं, राम का रख रहे हैं, विनय दुष्ट पात्र है। राम अच्छा है। अनवर को दुष्ट दिखाना अराष्ट्रीयता होगी।

मैंने कहा, विनय को जो नाम के कारण हिन्दू लगेगा उसको दुष्ट दिखाना अराष्ट्रीयता नहीं होगी? अधिकारी बोला नहीं। हिन्दू को हम अत्याचारी, अन्यायी, बलात्कारी दिखाएँगे तो देश में गड़बड़ होने का अन्देशा नहीं होता, जबकि किसी अहिन्दू को दिखाने से होता है। अतः राष्ट्रीय शान्ति और व्यवस्था की दृष्टि से यह उचित होगा कि आप हिन्दू को अत्याचारी-बलात्कारी दिखाएँ।

यह सुन मेरा वह खून खौल उठा जिसे आज मैं पहली बार हिन्दू अनुभव करने को बाध्य हुआ। मेरा राम जो अब तक मानव जाति का था एकदम हिन्दू बन गया।

मैंने कहा, नहीं। मैं राम का, एक हिन्दू का खून नहीं होने दूँगा।

इस पर अधिकारी बोला, इस तरह की साम्प्रदायिकता ही तो देश को डुबो रही है। कब इस देश को जातिवाद से मुक्ति मिलेगी भगवान जाने! जरा सोचिए, आप यदि हिन्दू को गिर जाने देते हैं और मुसलमान को चढ़ने देते हैं, तो आपकी कथा पारस बन जाएगी। सीधे टीवी पहुँचेगी।

अधिकारी के टीवी के पाँसे (बल्कि फन्दे) के आगे मैं हतबल हो जाता। स्क्रीन पर अपना नाम चमकता दिखाई देने लगता। वाह भाई वाह! आप टीवी पर जा विराजे वाह! सब ओर से लोग मुझे सुनाने लगते हैं।

मैंने अधिकारी को राम की हत्या करने की इजाजत दे दी।

कथा टीवी पर भी आ गई। मेरा नाम वाह-वाह हुआ। और आगे प्रकाशित लेखन में भी होता गया। लेकिन 'माँगवाद' के रूप में जातिवाद प्रकाशित लेखन भी था। यहाँ भी मैं राम की हत्या करता गया।

मेरा दरवाजा कॉलम, मंच, विशेषांक, प्रतिस्पर्धा, विचारवाद, व्यक्तित्व आदि सभी खटखटाने लगे। और मैं उनका विज्ञापक-मात्र बनकर रह गया। मैं जताने लगा कौन साबुन कितना झाग-भरा है, कौन कपड़ा कितना फैशनकारी है। मैं सिरदर्द की टिकियों, च्यवनप्राशों, साप्टड्रिंकों, फ्रिजों, अलमारियों, सूटकेसों में समा गया, जिनमें

छूट यह थी कि शब्द मेरे थे। पर मैं इन चीजों के बाहर नहीं जा सकता था। एक छूट और थी, गायक की तरह शब्दों के साथ मेरा नाम भी जाता था।

और यह मेरी जिन्दगी को सार्थक बना रहा था।

मेरी यह हस्ती कि मैं शब्दों की दुनिया का दिलीप, राजकपूर, अमिताभ बन गया।

एक बार एक मंच से उतरा तो नित्य की तरह हस्ताक्षर लेनेवाले चले आए। हस्ताक्षर के लिए डायरी आगे करते हुए एक लड़की ने कहा, कृपया सन्देश भी दीजिए। लिखा, जिन्दगी में उदात्तता के प्रतीक राम को कभी न भूलो।

और इस सन्देश को लिखते हुए मैं जैसे अपने हृदय पर छुरी चला रहा था।

भारतीय भाषा-दर्शन

भाषिक अक्षरता और बीजाक्षर तत्त्वदर्शन

नन्दलाल मेहता 'वागीश'*

भाषा शब्द में अधिवसित है तो शब्द का अधिवास है अक्षर। अक्षरत्व-शय्या पर शब्दरूप विष्णु अधिशयित है। अक्षर अखण्डनीय-अनंशनीय है। अक्षर का अक्षरत्व वर्ण में आकार लेता है। अक्षर निर्गुण-निराकार है, वर्ण सगुण-साकार है। अक्षर श्रव्यरूपेण ध्वन्यात्मक है, वर्ण दृश्यरूपेण लिप्यात्मक है। यह देवनागरी लिपि का अनुपम वैशिष्ट्य है जिसने अक्षर की स्वनिमता को वर्ण की लेखिमता में सम्पूर्णता, सर्वांगीणता और शतशः सटीकता से धारित किया है। श्रव्य और दृश्य की ऐसी अनन्यता, नाम और रूप की ऐसी सायुज्यता तथा अक्षर और वर्ण की ऐसी अद्वैतता देवनागरी लिपि को छोड़कर अन्य कहीं दृग्गत नहीं होती।

विभिन्न कोषों में दिए गए अक्षर के अर्थ ध्यातव्य हैं। ये अर्थ हैं अविनाशी, अनश्वर, ध्वनि-वर्ण, समष्टि रूप में भाषा, अविनाशी आत्मा, कूटस्थ, ब्रह्म, आकाश, मोक्ष, तप, धर्म आदि। अक्षर के इन सभी अर्थों में एकसूत्रात्मक संगति है, आत्मविस्तारण है। सभी अर्थों की आन्तरिक लय सम पर विराम लेती है और वह समस्वरता यह है कि इन सब अर्थों में अक्षरता भाव (नष्ट न होने के भाव) की वाचकता व्याप्त है।

भारतीय मनीषियों और भाषाचार्यों ने अक्षर की अक्षरता का निर्द्वन्द्व प्रतिपादन किया है। महाभाष्यकार पतञ्जलि का कथन है न क्षरतीति वाक्षरम्। आचार्य भर्तृहरि द्वारा 'अनादिनिधनं ब्रह्म' रूप में उपमित शब्दतत्त्व का आधारश्रय अक्षर ही है। मनुस्मृति में अक्षर को परमब्रह्म की संज्ञा देते हुए कहा गया है एकाक्षरं परंब्रह्म। अक्षर की अक्षरशीलता का प्रतिपादन मत्स्य पुराण और लिंग पुराण में भी हुआ है।

बृहदारण्यकोपनिषद् में अक्षर के कूटस्थ अद्वितीयत्व को लक्षित करते हुए कहा गया है कि यह अक्षर स्वयं दृष्टि का विषय नहीं किन्तु द्रष्टा है, श्रवण का विषय नहीं किन्तु श्रोता है, मनन का विषय नहीं किन्तु मन्ता है, स्वयं अविज्ञात रहकर दूसरों का विज्ञाता है। इससे भिन्न कोई द्रष्टा नहीं है, इससे भिन्न कोई श्रोता नहीं है, इससे भिन्न कोई मन्ता नहीं है, इससे भिन्न कोई विज्ञाता नहीं है। श्रीमद्भगवद्गीता में

*डॉ. नन्दलाल मेहता 'वागीश' लेखक एवं चिन्तक हैं।

अविनाशी जीवात्मा को अक्षर कहा गया हैकूटस्थोऽक्षर उच्यते। उक्त विवेचन इस तथ्य का साक्षी है कि अक्षर का अक्षरत्व ब्रह्मसत्ता से लेकर भाषासत्ता पर्यन्त व्याप्त है।

अक्षर और वर्ण की अद्वैतता भारतीय भाषा चिन्तन की विलक्षण एवं अनुपम उपलब्धि है। पुराणानुसार पवनसंख्या उनचास है और देवनागरी लिपि के वर्णाक्षर भी उनचास ही है। सोलह स्वर और तैंतीस व्यंजनइनकी ध्वनित स्थिति अक्षर है और लिखित स्थिति वर्ण। इन उनचास वर्णाक्षरों का उच्चारण उनचास पवनों की सहायता से ही घटित होता है। अक्षर मन्त्र है तो वर्ण यन्त्र। वर्णमन्त्रों में ही भाषिक अक्षरता अधिष्ठित है।

भाषा का अधिष्ठान शब्द है और शब्द का अधिष्ठान अक्षर। अक्षर की बीजपात्रता ही बीजाक्षरता है। बीज का वृक्षत्व रूपान्तरण एक सहज प्रक्रिया है, यह अनुलोम पद्धति है किन्तु वृक्षत्व का बीजीकरण एक विशिष्ट प्रक्रिया है, यह प्रतिलोम पद्धति है। भाषा-सन्दर्भ से इसे यूँ कहा जा सकता है कि अक्षरों की शब्दरूप भाषामुखीनता भाषात्व का सामान्य प्रवाह है किन्तु भाषात्व का पुनः अक्षरण (अक्षर में प्रविलयन) बीजाक्षरण-प्रक्रिया है। हठयोग में नादानुभूति और षट्चक्र भेदन की विशिष्ट साधना-पद्धति है। इस दृष्टि से बीजाक्षरण अक्षर की नाद-साधना है। उनचास वर्णाक्षरों में सोलहों स्वर अं में, तैंतीस व्यंजनों में कवर्ग के पाँचों वर्ण, 'कं' में, चवर्ग के पाँचों वर्ण, 'चं' में, ट वर्ग के पाँचों वर्ण 'टं' में, तवर्ग के पाँचों वर्ण 'तं' में, पवर्ग के पाँचों वर्ण 'पं' में, चारों अन्तस्थ वर्ण 'यं' में और चारों उष्म वर्ण 'शं' में बीजाक्षरित हो जाते हैं। इस प्रकार अं, कं, चं, टं, तं, पं, यं, शंये आठ प्राथमिक बीजाक्षर अष्टधा प्रकृति और अष्टदिक् की प्रतीकत्वधार्यता का प्रतिनिधित्व करते हैं।

वस्तुतः उनचासों वर्णाक्षर विश्ववाक् रूप में वायुमण्डल में पहले से विद्यमान थे। सुदीर्घ साधना के फलस्वरूप समाधि अवस्था में भारतीय ऋषियों ने अपने अन्तःकरण में विश्ववाक् रूप उनचास अक्षरों का साक्षात्कार किया। अक्षरों की अक्षरता वर्णों की दृश्य साकारता में फलित हुई। भारतीय अध्यात्म-चिन्तन की यह अटल धारणा है कि यत् ब्रह्माण्डे तत् पिण्डेजो ब्रह्माण्ड में है वही मानव-पिण्ड में है। वायुमण्डलस्थ उनचासों अक्षर मानव शरीरस्थ षट् चक्रों पर नादस्फुरित हो रहे हैं। अक्षर नादरूपेण ब्रह्म है और शरीरस्थ चक्रों (योगनाडियों) को कमल या पद्म कहा गया है। स्फुरित होनेवाले अक्षरों की कल्पना कमलदल के रूप में की गई है। क्रियायोग में निष्णात साधक मूलाधार चक्र से आज्ञाचक्र पर्यन्त स्फूर्तमान इन अक्षरों के स्पन्दन को अनुभव करने की शक्ति पा लेते हैं।

सभी बीजाक्षर अपनी नादात्मक स्थिति में इन्हीं षट्चक्रों पर स्पन्दनशील हैं। मूलधाधार चक्र पर बं, शं, पं, सं-4 बीजाक्षर, स्वाधिष्ठान चक्र पर बं, भं, मं, यं, रं, लं-6 बीजाक्षर तथा मणिपूर चक्र पर डं, ढं, णं, तं, थं, दं, धं, नं, पं, फंये 10

बीजाक्षर स्फुरणशील हैं। हृदयस्थ अनाहत पद्मचक्र के 12 दल हैं जहाँ कं, खं, गं, घं, डं, चं, छं, जं, झं, जं, टं, ठं स्पन्दित हो रहे हैं। सभी 16 स्वर कण्ठस्थ विशुद्ध चक्र पर स्फुरित हैं। स्वर देवता हैं, इसलिए वे निम्न चक्रों पर अधिष्ठित नहीं होत। विशुद्ध चक्र के ऊपर भ्रूमध्य आज्ञाचक्र है जहाँ हं क्षं दो अक्षर नादित हो रहे हैं।

इस प्रकार कं, से हं, तक 49 अक्षर हैं। क्षं संयुक्ताक्षर है। मूल अक्षरों के बाद इसका आगम हुआ है। वर्णमाला की पूर्णता पर संयुक्तता का पहला अक्षरबन्धन है क्ष, जिसमें क् + ष अर्धनारीश्वर भाव से प्रतिष्ठित हैं। क् के अल्पप्राणत्व का ष के महाप्राण में लय हो गया है। इस दृष्टि से यह माला का सुमेरु है। अ से क्ष तक अक्षरमाला चक्र पूरा होता है जिस पर उनचासों वर्णाक्षर सूत्रित हैं।

देवनागरी वर्णमाला के उनचासों अक्षर मौलिक रूप से अनाहत अक्षर हैं। इनका विखण्डन नहीं हो सकता। ये बीज ध्वनियाँ हैं। संसार की सभी भाषाओं की अक्षर ध्वनियाँ इन्हीं उनचास बीज ध्वनियों की मिश्र-अमिश्र झंकृतियाँ हैं। अवधेय है कि भारतीय तन्त्रसाधना के बीजाक्षर भी यही उनचासों अक्षर हैं। कामधेनु तन्त्र, वर्णाभिधान तन्त्र, वर्णोद्धार तन्त्र आदि तन्त्रशास्त्रीय ग्रन्थों और एकाक्षर कोश में इन अक्षरों के स्वरूप (आकृति, रूप, रंग) महात्म्य, देवत्व, प्रतीकात्मक रहस्य, ध्यान-विधि, अभिधान (अर्थपूर्ण वाचकत्व), तन्त्रात्मक महत्त्व-उपयोग, पर्यायत्व, गुण-विशेषत्व और आरेखन का सटीक व सांगोपांग वर्णन मिलता है।

इस प्रकार भारतीय भाषा-चिन्तन में वाक् की स्वतन्त्र-सत्ता का संकेतन, शब्द के ब्रह्मत्व का युक्तियुक्त प्रतिपादन, अक्षर के अक्षरत्व का अखण्डनीय विवेचन और बीजाक्षर तत्त्वदर्शन का तात्त्विक मीमांसन इस तथ्य को रेखांकित करता है कि भारतीय मनीषा का भाषा चिन्तन सृष्टि-रहस्य की जिज्ञासा, वैचारिक अनुसंधान और समष्टि-बोध की मांगलिक चेतना से अनुप्राणित है।

¹ शब्दालोक-1218, सैक्टर-4, अर्बन एस्टेट, गुड़गाँव।

हिन्दी की पारिभाषिक शब्दावली का व्यावहारिक-सन्दर्भ[#]

कृष्णचन्द्र गोस्वामी*

किसी भी शब्दावली के व्यावहारिक-पक्ष का विचार केवल जिन सन्दर्भों में किया जा सकता है, उन सन्दर्भों में से एक है अभिव्यक्ति और दूसरा है सम्प्रेषण। इसका कारण यह है कि दोनों ही भाषा के ऐसे तत्व हैं जिनकी भाषा की उपादेयता के आकलन में केन्द्रीय-भूमिका रहती है। पारिभाषिक शब्दावली ही या सामान्य शब्दावलीशब्द भाषा का अंग-भूत घटक बनकर सदैव इन्हीं दोनों तत्वों को साधने-आराधने का प्रयास करते दिखाई पड़ते हैं। इस प्रकार, कहा जा सकता है कि भाषा बात करने अथवा अन्य से कुछ कहने, अन्य पर अपने को प्रकट करने अथवा अन्य से संवाद में अवस्थित होने का माध्यम है।

किन्तु, यदि इस विषय में जरा और गहरे उतरें तो पाएँगे कि माध्यम के रूप में भाषा की भूमिका केवल यहीं तक सीमित नहीं है। यह ठीक है कि भाषा अन्य पर अपने को प्रकट करने अथवा अन्य से संवाद में अवस्थित होने का माध्यम बनती है, किन्तु यह भाषा व्यवहार का एक स्तर है। भाषा-व्यवहार का दूसरा स्तर वह है कि जहाँ अभिव्यक्ति और सम्प्रेषण किन्हीं दो व्यक्तियों के मध्य घटित न होकर स्वयं कर्ता व्यक्ति के अन्तःकरण में घटित होते हैं। जैसाकि विचार और भावन की क्रिया के मध्य होता है।

विचार और भावन की क्रिया के माध्यम से रूप में भाषाव्यवहार कर्ता-व्यक्ति के अन्तःकरण में जिस स्तर पर स्वयं को अधिष्ठित करती है, वह स्तर पर उपर्युक्त स्तर से सर्वथा भिन्न और विशिष्ट होता है। यही वह भूमि है जहाँ भाषा सर्जनात्मक-सम्भावनाओं का साक्षात्कार करती है। कर्ता-व्यक्ति के अन्तःकरण में इन सर्जनात्मक-सम्भावनाओं का अवतरण जितना साहित्य, कला और दर्शन आदि क्षेत्रों की विपुलार्थता की अभिव्यक्ति के लिए अपेक्षित है, उतना ही विज्ञान और तकनीकी के क्षेत्र में विपुलार्थता की अभिव्यक्ति के लिए भी अपरिहार्य है। क्योंकि भाषाव्यवहार के इस

* हिन्दी विभाग, महारानी जया महाविद्यालय, भरतपुर
श्री निकुंज बी-90 जवाहर नगर, भरतपुर (राजस्थान)

स्तर में गहरे पैठने पर ही कोई व्यक्ति 'आइंस्टीन' या 'न्यूटन' बन पाता है। इसलिए मेरी यह दृढ़-धारणा है कि विज्ञान मौलिक रूप से एक सर्जनात्मक-क्षेत्र है और आविष्कार इसी सर्जनात्मकता के कल्प-वृक्ष पर लगे फल हैं।

ऐसी स्थिति में, भाषाराधन केवल साहित्य या दर्शन आदि के क्षेत्र में ही नहीं; विज्ञान के क्षेत्र में भी समान-निष्ठा से किया जाए, यह आवश्यक प्रतीत होता है। हाँ, इतना अवश्य है कि प्रत्येक क्षेत्र अपनी आवश्यकता के अनुसार तकनीकी या पारिभाषिक-शब्दावली रचे तथा व्यवहार में लाए, यह उसका सामान्य अधिकार है।

सर्जनात्मकता की दृष्टि से विश्व के राष्ट्रों या समाजों को दो श्रेणियों में रखा जा सकता है। पहले वे हैं जो अपनी सर्जनात्मक-ऊर्जा के द्वारा जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में आविष्कार करने में लगे हैं और दूसरे वे हैं जो इन आविष्कृत वस्तुओं के केवल उपभोक्ता-भर हैं। वस्तुतः छोटे-से-छोटा नव-प्रवर्तन एक बौद्धिक आयास और चिन्तन की माँग करता है। जो राष्ट्र आविष्कार करता है वहाँ आविष्कृत वस्तु ही नहीं, उसका सैद्धान्तिक पक्ष भी जीवित रहता है और वह चिन्तन और ज्ञान की परम्परा का अंग बनकर अन्य उद्भावनाओं की सृष्टि करता है, जो पुनः नई उपलब्धियों का कारण बनती है, किन्तु पिछड़े राष्ट्र या समाज के लिए जिन्हें सिर्फ उस वस्तु की आवश्यकता होती है, संकल्पना की नहीं, सैद्धान्तिक-पक्ष किंचित् अतर्क्य और बेकार से लगते हैं। अतः वे आविष्कृत-वस्तु को ग्रहण करके ही संतुष्ट हो जाते हैं।¹

कहने की आवश्यकता नहीं है कि कोई भी जीवन्त-समाज, जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में सदा-सर्वदा केवल उपभोक्ता बनकर ही संतुष्ट रहे, यह सम्भव नहीं। वह उपभोक्ता से उत्पादक और उत्पादक से आविष्कर्ता बनने का प्रयास करेगा ही। क्योंकि यही विकास की स्वाभाविक प्रक्रिया है। इस तरह, विश्व-सभ्यता की विकास-यात्रा में जो जीवन्त समाज हैं वे आविष्कर्ता हैं और जो अनुकर्ता या पिछड़े समाज हैं वे या तो केवल उपभोक्ता हैं, या फिर मात्र मैकेनिक। आधुनिक विश्व-सभ्यता के विकास में हमारा योगदान क्या है? हम किस समाज का प्रतिनिधित्व करते हैं? यह आप और हम स्वयं विचार कर सकते हैं!

प्रश्न यह है कि यह दृश्य बदले कैसे? इस प्रश्न का जो एक उत्तर अभी तात्कालिक रूप से सूझता है, वह यह कि विज्ञान और तकनीकी के क्षेत्र में हमारी भाषा इतनी समर्थ हो कि वह वैज्ञानिक एवं तकनीकी विषयों के विचार तथा भावन का माध्यम बन जाए। इस अर्थ में यह कार्य वैज्ञानिक एवं तकनीकी-शब्दावली के निर्माण और व्यवहार से गहरे जुड़ा हुआ है। वैज्ञानिक एवं तकनीकी शब्दावली आयोग इस दिशा में विगत पचास वर्षों से सक्रिय है किन्तु फिर भी यह कार्य अभी उतना आगे नहीं बढ़ पाया है जितना कि इतने समय में अपेक्षित था।

आयोग ने अपनी स्थापना से लेकर आज तक जिस तरह की भाषा के निर्माण में अपनी शक्ति लगाई है, उसकी गति केवल अनुवाद की भाषा के निर्माण या

भाषानुवाद के माध्यम के निर्माण की ओर उन्मुख रही है। जिसे हमने ऊपर उपभोक्ता समाज कहा है और दुर्भाग्य से हम भी अभी इसी स्थिति में पड़े हैं, उसकी दृष्टि से यह कार्य आधारभूत होने के बाद भी, ऐसा नहीं है, जिस पर अन्तिम रूप से संतोष कर लिया जाए।

उपर्युक्त चर्चा का यह अर्थ कतई नहीं है कि हम यहाँ अनुवाद-कर्म के महत्व या उसकी जटिलता को कुछ कम करके आँक रहे हैं। निश्चय ही, अनुवाद के कार्य की अपनी दुर्लभ कठिनाइयाँ हैं। सामान्यतः अनुवाद शब्दों और वाक्यों की समानार्थकता की पूर्ण मान्यता पर आधारित होता है किन्तु सूक्ष्मतः देखने से ध्यान में आता है कि शब्दों और वाक्यों के अर्थ सम्पूर्ण भाषा के वाक्य-तंत्र और अर्थ रचना तंत्र में अन्तर्व्याप्त रहते हैं और ये तन्त्र उस भाषा के प्रयोक्ता समाज की जीवन और जगत विषयक दृष्टि में गहराई तक प्रसरित रहते हैं।¹² इसलिए एक भाषा से दूसरी भाषा में पूर्णतः सम्यक् अनुवाद असम्भव होता है। जिस तरह हमें अंग्रेजी के अनेक शब्दों के पर्याय या समानार्थी शब्द हिन्दी में या अन्य भारतीय भाषाओं में प्रयास करने के बाद भी नहीं मिलते, ठीक वैसे ही हमारी भाषाओं में भी ऐसे अनेक शब्द हैं जिनका समानार्थी विश्व की किसी भी भाषा में मिलना असम्भव है। उदाहरण के लिए एक शब्द है 'उत्तरोत्तर'।

हमारे यहाँ 'उत्तरोत्तर' शब्द का प्रयोग एक सकारात्मक विशेषण के रूप में किया जाता रहा है। उसने 'उत्तरोत्तर' उन्नति कीऐसे वाक्य हमारे यहाँ जब-तब सुनाई पड़ते हैं। किन्तु ऐसा प्रयोग नहीं सुना गया कि उसका 'उत्तरोत्तर' पतन हुआ। वस्तुतः इस शब्द का विकास हमारी धर्म-दृष्टि के आलोक में हुआ है। हिमालय अनादिकाल से भारतीय आकांक्षाओं एवं आदर्शों के सर्वोच्च प्रतीक के रूप में प्रतिष्ठित है। हमारे सारे ऊर्ध्वगमनीय प्रयत्नों का सादृश्य हिमालय रहा है। परिणामतः कन्याकुमारी से हिमालय के सर्वोच्च शिखर 'सागर-माथा' पर्यन्त हमने अपने विकास की, अपनी प्रगति की दिशा को समझा और स्वीकारा है। यह स्वीकृति हमारी अनंत पीढ़ियों का अर्जन तो है ही, साथ ही भाषा रूप में ढली हमारी धर्म-दृष्टि का परिचायक भी है। भारतीय-मनीषियों ने कन्याकुमारी से 'उत्तर' दिशा की ओर चलते हुए 'उत्तरोत्तर' शब्द का साक्षात्कार किया है। अतः इस 'उत्तरोत्तर' शब्द का विश्व की किसी भी भाषा में पर्याय मिल पाना ठीक वैसे ही सम्भव नहीं है जैसे भारतीय भाषाओं में 'तलाक' शब्द के पर्याय का मिलना। ऐसे और भी उदाहरण देखे जा सकते हैं। ऐसी स्थिति में, अनुवाद कार्य की कठिनाई को समझा जा सकता है।

यही कारण है कि वैज्ञानिक एवं तकनीकी शब्दावली आयोग द्वारा प्रकाशित परिभाषा कोशों में ऐसे सैकड़ों शब्द हैं जिनमें अर्थ का पारदर्शिता के साथ अनुवाद नहीं हो पाया है। ऐसा अनेक कारणों से हुआ है इन कारणों में पहला कारण यह है कि कोशकारों ने अनेक ऐसे शब्दों के छायानुवाद करने की कोशिश की है जो अर्थ

की दृष्टि से संस्कृतिनिष्ठ हैं। ऐसा अंग्रेजी से भारतीय और भारतीय से अंग्रेजीदोनों प्रकार की शब्दावली के अनुवादों में हुआ है। उदाहरण के लिए अंग्रेजी के 'इरिलिजन Irreligion' शब्द का दर्शन कोश में अर्थ 'नास्तिकता' और 'अधर्म' किया गया है जबकि भारतीय शब्दावली में नास्तिकता अधर्म का समतुल्य नहीं है।

इसी तरह सांस्कृतिक नृ-विज्ञान परिभाषा कोश में यज्ञोपवीत का अनुवाद Sacred thread किया गया है। निश्चित रूप से यह अनुवाद भी अपेक्षित अर्थ का व्यंजक नहीं है। अतः ये दोनों शब्द अभिव्यक्ति और सम्प्रेषण की कसौटी पर खरे नहीं उतरते हैं।

अर्थ की अपारदर्शिता का दूसरा कारण यह है कि कोशकारों ने जहाँ किसी पाश्चात्य पारिभाषिक शब्द के अनुवाद में भारतीय भाषा का पारिभाषिक-शब्द रख दिया है, वहाँ अर्थ-ग्रहण में तो कठिनाई आई ही है, साथ में, उस भारतीय विषय की पारिभाषिक शब्दावली के अर्थ के विषय में विभ्रम की स्थिति भी उत्पन्न हुई है। जैसे अंग्रेजी के Real शब्द का अनुवाद 'सत्' इस अर्थ के साथ "काल्पनिक या असम्भव मात्र के विपरीत, सचमुच बाह्यजगत में अस्तित्व रखनेवाला" दर्शन परिभाषाकोश में दिया गया है। कठिनाई यह है कि यह 'सत्' शब्द भारतीय-दर्शन की अति प्रचलित अवधारणा है जो इस अर्थ से भिन्न अर्थ रखती है। अतः इस शब्द के प्रयोक्ता को पाश्चात्य-दर्शन के अध्ययन में इससे एक अर्थ और भारतीय दर्शन के अध्ययन में दूसरा अर्थ ग्रहण करना पड़ेगा। यही स्थिति Trinity के 'त्रिमूर्ति' अनुवाद में है। स्वयं 'फिलासफी Philosophy' और दर्शन कितने समानार्थी हैं? कहने की आवश्यकता नहीं है।

अर्थ की अपारदर्शिता का तीसरा कारण है भाषा के व्याकरणिक ढाँचे से की गई छेड़छाड़। हमने ऊपर की पंक्तियों में विज्ञान आदि विभिन्न क्षेत्रों द्वारा अपनी आवश्यकतानुसार पारिभाषिक तथा अन्य शब्दावली के निर्माण के अधिकार की ओर संकेत किया है किन्तु इस शब्द निर्माण की प्रक्रिया में यह परम आवश्यक है कि भाषा की प्रकृति और उसे संस्कारित करनेवाले व्याकरण की व्यवस्थाओं का सावधानीपूर्वक पालन हो। भाषा की प्रकृति और व्याकरण की व्यवस्थाओं की उपेक्षा करके जो शब्द बनाए जाएँगे वे अशुद्ध होने के कारण उन अर्थों के सम्प्रेषण में असमर्थ रहेंगे जिन अर्थों को हम पाठक या श्रोता तक पहुँचाना चाहते हैं। उदाहरण के लिए, आयोग द्वारा शिक्षा परिभाषा-कोश में 'डोसिलिटी Docility' शब्द का हिन्दी अनुवाद किया गया है 'विनयता'। इसी तरह एक शब्द है 'कैम्पिंग Camping' जिसका हिन्दी अनुवाद 'शिविरण' किया गया है। यहाँ पहले शब्द में 'विनय' स्वयं भाव-वाचक शब्द है, उसके पीछे 'ता' जोड़कर भाव-वाचक को पुनः भाव-वाचक बनाना अनावश्यक है। दूसरे शब्द के निर्माण में 'शिविर' शब्द के साथ ल्युट् प्रत्यय जोड़ा गया है जो व्याकरण सम्मत नहीं है।

यह ठीक है कि पारिभाषिक शब्दावली के निर्माण में हम संस्कृत की शब्द निर्माण की प्रक्रियाओंसमास, सन्धि, उपसर्ग, प्रत्यय आदि का प्रयोग व्यापक रूप से करते हैं। इसी तरह, हमारे द्वारा संस्कृत की शब्दावली का ग्रहण किया जाना भी परम्परा-प्रवाह की दृष्टि से स्वाभाविक है। फिर भी, यह ध्यान रखना आवश्यक है कि हिन्दी-संस्कृत नहीं है उसका अपना एक स्वतन्त्र व्यक्तित्व है। संस्कृत की प्रकृति योगात्मक है और हिन्दी की अयोगात्मक। हिन्दी ने न केवल संस्कृत की अनेक ध्वनियों के स्थान पर अपनी ध्वनियाँ गढ़ ली हैं, अपितु अनेक संस्कृत शब्दों को संस्कृत से अलग अर्थ में प्रयोग भी किया है। 'एवं' का 'और' के अर्थ में प्रयोग, ऐसा ही एक प्रयोग है। 'राजा' से संस्कृत 'महाराज' शब्द बनाती है किन्तु हिन्दी में 'महाराज' को ग्रहण करने के साथ एक और शब्द 'महाराजा' भी बना रखा है। हिन्दी ने 'दशानन' में तो संस्कृत का 'दश' ले लिया है किन्तु 'दस' की संख्या को 'दश' के रूप में अस्वीकार कर दिया है। ये और ऐसे अन्य उदाहरण पारिभाषिक-शब्दावली बनाते समय ध्यान में रखे जाने योग्य हैं।

अर्थ की अपारदर्शिता का चौथा कारण मुहावरों के शब्दानुवाद की प्रवृत्ति बनी है। सांस्कृतिक नृ-विज्ञान कोश में एक शब्द है Productive Magic जिसका हिन्दी अर्थ किया गया हैउर्वरक-जादू। इसी तरह शिक्षा परिभाषा कोष में एक शब्द है Accelerated Child इसका अर्थ किया गया हैत्वरित बालक। अब इन शब्दों से कोई भी क्या समझे? प्रश्न यह भी है कि क्या मुहावरों जैसे भाषा के लाक्षणिक प्रयोगों का शब्द के समानान्तर अनुवाद किया जाना चाहिए? यदि हाँ, तो अर्थ-सम्प्रेषण कैसे होगा?

अर्थ की अपारदर्शिता का पाँचवाँ और अन्तिम कारण बनाए गए पारिभाषिक शब्दों को वाक्यों में ढालकर उनके प्रायोगिक प्रवाह की जाँच नहीं किया जाना है। यदि ऐसा कर लिया गया होता तो अनेक व्यावहारिक कठिनाइयाँ प्रथम चरण में ही ढूँढी और दूर की जा सकती थीं।

वक्तव्य समाप्त करने से पूर्व एक महत्वपूर्ण बात यह कहनी है किदर्शन परिभाषा-कोश के सम्पादकीय वक्तव्य में विदेशी नामों की देवनागरी वर्तनी की चर्चा आई है। जिन्हें हिन्दी वाले ब्रेडले, बर्कले कहते हैं; सम्पादक ने उनके नाम की सही वर्तनी ब्रेडली, बर्कली बताई है। इसी तरह नीट्शे की सही वर्तनी 'नीचे', पाइथागोरस की वर्तनी 'पिथेगोरस', यूलर को वर्तनी 'ऑयलर' होनी चाहिए, ऐसा लिखा है। सम्पादक ने इन उच्चारणों के लिए बेबस्टर-बायोग्राफिकल डिक्शनरी को मानक माना है। किन्तु सुकरात और अरस्तू को यह कहकर छोड़ दिया है कि "ये भारतीय रूप बहुत समय से चले आ रहे हैं। अतः इन्हें यों ही स्वीकार कर लिया गया है।"

हमारा कहना यह है कि यदि कोश हिन्दीवालों के लिए बन रहे हैं तो उनके हिन्दी उच्चारण को प्राथमिकता मिलनी चाहिए जैसा कि सुकरात और अरस्तू के प्रसंग

में कहा और किया गया है। जो लोग भारत को 'इण्डिया' कहते हैं उन्होंने इस बात की चिन्ता कब की है कि भारत के लोग भारत को क्या कहते हैं? इस प्रश्न का उत्तर भी यहीं ढूँढा जाना चाहिए था किन्तु आत्महीनता की ग्रन्थि ने शायद वैसा नहीं करने दिया। खैर!

जो हो, अर्थ सम्प्रेषण की उक्त सभी कठिनाइयों के बाद भी यह सच है कि विज्ञान आदि विषयों को हिन्दी माध्यम में सुपाठ्य बनाने में वैज्ञानिक एवं तकनीकी शब्दावली आयोग ने एक आधारभूत काम किया है। आज इन कोशों के हजारों-हजारों शब्द हिन्दी के भाषा प्रवाह के अंश बन चुके हैं जो इनके महत्व को रेखांकित करनेवाले हैं। अतः जो परिश्रम आयोग के देखभाल में शब्द निर्माण के लिए हुआ है वह अत्यन्त उपयोगी है। हाँ, उसमें व्यावहारिक दृष्टि से कुछ सुधार अपेक्षित हो सकते हैं। मेरे इस प्रयास में भी कुछ ऐसे ही सुधारात्मक सुझाव हैं जिनका सम्बन्ध शब्द-निर्मात्री-दृष्टि से लेकर शब्द-निर्माण की प्रक्रिया पर्यन्त है। यदि इन सुझावों से पारिभाषिक शब्दावली की व्यावहारिक कठिनाइयों में थोड़ी-सी भी कमी आती है तो मैं, मेरा परिश्रम सार्थक समझूँगा।

हिन्दी एवं भारतीय भाषा अध्ययन विभाग, रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय, जबलपुर के तत्वावधान में वैज्ञानिक एवं तकनीकी शब्दावली आयोग के सौजन्य से आयोजित-राष्ट्रीय संगोष्ठी के समारोप सत्र में दिनांक 14.05.2004 को प्रस्तुत।

सन्दर्भ

1. देखिएभगवानसिंह, हड़प्पा सभ्यता और वैदिक संस्कृति-पृ. 278-79
2. यशदेव शल्य, समाज : एक दर्शनिक परिशीलन, पृष्ठ-56

वैज्ञानिक निबन्ध : उद्देश्य और स्वरूप

दिनेश मणि*

आज निबन्ध अपने मूल और रूढ़ अर्थों से सर्वथा भिन्न अर्थ में प्रयुक्त हो रहा है। वह अपने सभी समानान्तर पर्यायों के मौलिक अर्थों में से भिन्न अर्थ रखता है। वास्तव में वह लैटिन के एग्जीजियर' (निश्चिन्तता पूर्वक परीक्षण करना) से निकले फ्रेंच के 'ऐसाइ' तथा अंग्रेजी के 'एसे' का पर्याय हो चुका है जिनका शाब्दिक अर्थ 'प्रयत्न', 'प्रयोग' या 'परीक्षण' होता है। निबन्ध का कलेवर लघु या दीर्घ हो सकता है। इसमें निबन्धकार आत्मीयता या अनात्मीयता, वैयक्तिकता या निर्वैयक्तिकता के साथ किसी एक विषय या उसके हिन्दी अंशों या प्रसंगों पर अपनी निजी भाषा शैली में भाव या विचार प्रकट करता है।

वास्तव में किसी भी साहित्य रूप को परिभाषित करना सहज सम्भव नहीं है। निबन्ध को परिभाषा में बांधना कदाचित् काव्य को परिभाषित करने से भी कठिन है। इस दृष्टि से निबन्ध बंधनहीन है। अनेक लेखकों ने निबन्ध को निबन्धकार की कृति कहकर संतोष किया है।

गद्य के आधुनिक युग में वैज्ञानिक निबन्धों का विशेष महत्व है क्योंकि इसके माध्यम से गद्य की शैलियों के निखार और विकास की अनन्त सम्भावनाएँ हैं। निबन्ध को गद्य की कसौटी कहना अत्युक्तिपूर्ण नहीं है क्योंकि निबन्ध लेख का मार्ग ऐसा होता है जो किसी का जाना समझा नहीं है। उसे अपनी भाषा सामर्थ्य से ही प्रमाणित करना पड़ता है कि अज्ञात-पथ उसके लिए सर्वथा परिचित और अपना है।

शैली की दृष्टि से गद्य के अनेक साहित्य रूप मिलते हैं। उन्हें लेख, निबन्ध, प्रबंध, आलोचना, कहानी, उपन्यास, नाटक, जीवनी आदि अनेक रूपों में जाना जाता है। निबन्ध के पर्याय के रूप में लेख, सन्दर्भ, रचना और प्रस्ताव शब्द भी प्रचलित हैं। लेख मूल अर्थ में सम्पूर्ण लिखी सामग्री के लिए आता है किन्तु वास्तव में यह उस गद्य रचना के लिए प्रयुक्त होने लगा है जिसमें लेखक अपने ढंग से किसी विषय पर शास्त्रीय ढंग से प्रकाश डालता है।

* डा. दिनेश मणि डी. एस-सी., पूर्व सम्पादक, 'विज्ञान' मासिक पत्रिका 47/29, जवाहर लाल नेहरू रोड, जार्ज टाउन, इलाहाबाद-211002

किसी एक शीर्षक पर विचार प्रधान छोटी सी संयुक्त गद्य प्रधान अभिव्यक्ति को निबन्ध की संज्ञा दी जाती है। निबन्ध को लिखने के पूर्व अपने विचारों में तारतम्य, वर्णन में सन्तुलन, तटस्थता लाने और उसे तर्क की कसौटी पर कसे जाने योग्य बनाने के लिए पहले रूपरेखा तैयार कर लेनी चाहिए। फिर रूपरेखा के प्रत्येक शीर्षक की सामग्री सूत्र में लिख लेनी चाहिए। इसके बाद रूपरेखा के आधार पर निबन्ध लिखना प्रारम्भ करना चाहिए।

निबन्ध के मुख्य अंगों में भूमिका, विषय का प्रतिपादन, तुलनात्मक चर्चा, निष्कर्ष उल्लेखनीय है। सबसे पहले शीर्षक के अनुकूल भूमिका लिखी जाती है। भूमिका में या तो शीर्षक की परिभाषा उदाहरण सहित लिखी जाती है या भूमिका शीर्षक के आर्थिक या सामाजिक या किसी अन्य प्रकार के महत्व पर चर्चा करके प्रारम्भ की जाती है। इसके अतिरिक्त किसी निबन्ध की भूमिका किसी महत्वपूर्ण लोकोक्ति या कहावत देकर शुरू भी की जाती है या किसी विशेषज्ञ का उद्धरण देकर प्रारम्भ की जाती है। भूमिका बहुत लम्बी नहीं होनी चाहिए। छोटी सी भूमिका 10 पंक्तियों की होनी पर्याप्त है।

इसके बाद विषय का प्रतिपादन किया जाता है। विषय के प्रतिपादन में विषय का वर्गीकरण, आकार, रूप और क्षेत्र आते हैं। विषय के प्रतिपादन में विषय के क्रमिक विकास का प्रयोजन मुख्य होता है। इसके अतिरिक्त सन्दर्भित विषय में तारतम्य और क्रमबद्धता को विशेष महत्व दिया जाता है। इसके बाद विषयवस्तु के तुलनात्मक विवरण का विश्लेषण करके अन्त में निष्कर्ष प्रस्तुत किया जाता है।

विज्ञान साहित्य में इस विधा का उपयोग करते समय पार्श्वशीर्षकों, उपशीर्षकों को भी दिया जाना उपयोगी माना जाता है।

निबन्ध का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक होता है। वह किसी भी सूचना, विषय, विचार भाव को व्यक्त करने के लिए लिखे जा सकते हैं। इनको लिखते समय निम्नलिखित बातों पर ध्यान देना जरूरी है

1. निबन्ध के विषय पर पूर्व में किए गए अध्ययन, शोध कार्यों के सन्दर्भ ग्रन्थों की सूची पहले तैयार करके उपलब्ध साहित्य से इतना अध्ययन करना चाहिए, जिससे विषयवस्तु के बारे में उसके उद्भव से लेकर अद्यतन स्थिति तक सही जानकारी हो जाए। इसके बाद उस विषय पर अपना मनन चिन्तन करके विषयवस्तु के विश्लेषण करने की क्षमता प्राप्त करने पर निबन्ध की रूपरेखा उपर्युक्त शैली पर तैयार करके निबन्ध का श्रीगणेश करना चाहिए।
2. विषयवस्तु के सम्बन्धित आँकड़ों, संस्तुतियों, प्रमाण हेतु प्रस्तुत किए जाने योग्य उद्धरणों को निबन्ध प्रारम्भ करने के पूर्व लिख लेना चाहिए, जिससे उनको निबन्ध में यथास्थान लिखा जा सके।

3. निबन्ध लेखन रूपरेखा के अनुसार शृंखलाबद्ध होना चाहिए। विषयान्तर से बचने का भरसक प्रयत्न करना चाहिए।
4. निबन्ध में सरल बोधगम्य, मुहावरेदार, रोचक और आकर्षक भाषा का प्रयोग करना चाहिए। वाक्य रचना इतनी लम्बी और बोझिल नहीं होनी चाहिए जिससे पाठक उकता जाए। छोटे-छोटे वाक्यों में छोटे-छोटे भाव तारतम्यता से व्यक्त करना चाहिए। एक परिच्छेद में एक भाव व्यक्त किया जाना चाहिए।
5. निबन्ध की प्रस्तावना और समापन में लेखक को विशेष सजगता बरतनी चाहिए। प्रस्तावना में जिस प्रकार निबन्ध शीर्षक का परिचय बड़ी आकर्षक और रोचक शैली में दिया जाता है, उसी प्रकार उसके समापन में सारे निबन्ध का सारांश और निचोड़ प्रभावकारी शब्दों में व्यक्त किया जाना चाहिए।
6. निबन्ध लेखन में तारतम्य एवं सन्तुलन का विशेष ध्यान रखना चाहिए। विषय के क्रमिक विकास की ओर भी ध्यान दिया जाना चाहिए।
7. विरोधाभास, दोहरापन, तथ्यों की संदिग्धता, असम्बद्धता, असन्तुलन आदि दोषों से विशेष रूप से बचना चाहिए।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात वैज्ञानिक निबन्धों के विषयों में बहुत तेजी से वृद्धि हुई है। 1950 से 1960 तक स्वास्थ्य एवं चिकित्सा, अन्तरिक्ष विज्ञान जैसे विषयों पर अधिक निबन्ध प्रकाशित होते थे। 1960 से 1970 तक हरितक्रान्ति, सामुदायिक विकास कार्यक्रमों पर केन्द्रित निबन्धों का बोलवाला था। 1970 से 1980 तक परमाणु ऊर्जा, मृदा एवं जलसंरक्षण, पशुपालन, दुग्ध विज्ञान जैसे विषयों पर अधिक संख्या में निबन्ध प्रकाशित होते रहे। 1980 के पश्चात से पर्यावरणीय प्रदूषण, मृदा प्रदूषण, जल प्रदूषण, वायु प्रदूषण, ध्वनि प्रदूषण, वन एवं पारिस्थितिकी जैसे विषयों पर सारगर्भित एवं चिन्तनपरक वैज्ञानिक निबन्धों का प्रकाश प्रारम्भ हुआ। तत्पश्चात् जनसंख्या विस्फोट, ऊर्जा के वैकल्पिक स्रोतों पर केन्द्रित विषय भी वैज्ञानिक निबन्धों के अन्तर्गत सम्मिलित हुए।

इधर विगत कुछ वर्षों से उपग्रह, जैव-प्रौद्योगिकी, सूचना प्रौद्योगिकी, कम्प्यूटर, प्राकृतिक खेती, समन्वित पोषक तत्व प्रबंधन, वर्मीकल्चर प्रभृति विषयों पर वैज्ञानिक निबन्ध प्रकाशित हो रहे हैं। प्राकृतिक चिकित्सा, योग, तनाव-युक्त जीवन, सन्तुलित आहार, जैसे विषयों के प्रति लोगों की अभिरूचि को देखते हुए कुछेक वैज्ञानिक निबन्ध प्रकाशित हो रहे हैं। एड्स, कैंसर, मधुमेह, हृदयरोग एवं अन्य रोगों से सम्बन्धित महत्वपूर्ण जानकारी वाले निबन्ध भी प्रकाशित हो रहे हैं। इस प्रकार वैज्ञानिक निबन्धों के विषयों में निश्चित रूप से विविधता आई है। फिर भी ललित

वैज्ञानिक निबन्धों एवं भाव-प्रधान, विचारोत्तेजक वैज्ञानिक निबन्धों की विशेष आवश्यकता है।

आज जितने भी लोकप्रिय विज्ञान लेखक हैं और जो गद्य शैली का सहारा लेते हैं वे विज्ञान निबन्धकार हैं। इनमें से कुछेक लेखकों द्वारा लिखित निबन्ध विविधतापूर्ण होते हैं। उनके निबन्ध वैज्ञानिक पत्रिकाओं के अतिरिक्त अनेक साप्ताहिक तथा दैनिक समाचार पत्रों में छपते हैं। किन्तु अधिक छपना निबन्धकार की कसौटी नहीं है। कसौटी तो भाषा और भावों में कसाव है। वैसे विज्ञान निबन्धकार के लिए छूट भी कम है। आज इतनी अधिक जानकारी प्राप्त है कि उसमें से चुनाव करना और उसे हृदयग्राही ढंग से पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करना कठिन कार्य है। फिर भाषा का सवाल उठता है, विज्ञान के पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग की बाध्यता निबन्धकार की सीमा निर्धारित करती है। लोकप्रिय लेखन के नाम पर वह वैज्ञानिक पारिभाषिक शब्दों का सरलीकरण भी नहीं कर सकता है। वह इतना ही कर सकता है कि विस्तार देकर समझावे। निबन्ध के लिए उसके शुष्क शैली से बचने के लिए ललित शैली अपनाती ही पड़ती है। वह हास्य, व्यंग्य को भी अधिक प्रश्रय नहीं दे सकता। उसे भावपूर्ण निबन्ध लिखने पड़ते हैं, वैज्ञानिक तथ्यों से अपने को सर्वथा अनुकूल रखते हुए।

प्रायः निबन्ध लेखक महत् उद्देश्य से लेखन करते हैं, जिसके लिए वे योजनाबद्ध तरीके से आगे बढ़ते हैं। वे प्रायः किसी पुस्तक का रूप देकर उन्हें स्थायी बना देना चाहते हैं। किन्तु जिस गति से विज्ञान प्रगति कर रहा है उसमें अच्छा से अच्छा निबन्ध अगले दस वर्षों में अप्रासंगिक बन जाता है। अतः निबन्ध की उपयोगिता तात्कालिक होती है। केवल भाषा के परिष्कार एवं शैली में कसाव की दृष्टि से निबन्ध लेखन महत्व रखता है। यही कारण है कि वैज्ञानिक साहित्य सृजन में निबन्ध लेखन का अग्रगण्य स्थान है। किन्तु कुछ निबन्ध ऐसे हो सकते हैं जिनका महत्व सदैव बना रहे। अंग्रेजी में बट्रेण्ड रसल के निबन्ध सबको आकर्षित करते हैं। हिन्दी साहित्य में पं. विद्यानिवास मिश्र या डॉ. कुबेर नाथ राय के निबन्ध सराहनीय हैं। किन्तु हिन्दी में ऐसे विज्ञान लेखकों का अभाव है जो उपर्युक्त प्रकार के गम्भीर निबन्ध लिखते हों। लोकप्रिय होना अलग बात है। इसके लिए अभी मैदान खाली है। विज्ञान लेखन एवं पत्रकारिता में दक्षता प्राप्त करने पर ऐसा सम्भव हो सकेगा। स्वास्थ्य, कृषि, ज्योतिष विज्ञान, जैव-प्रौद्योगिकी, सूचनाप्रौद्योगिकी जैसे आम विषयों से हटकर मनुष्य पर वैज्ञानिक प्रगति के दूरगामी प्रभावों की कल्पना में शायद भाव-प्रधान निबन्धों का सृजन हो सकेगा।

वैज्ञानिक निबन्धकार के लिए मात्र यही आवश्यक नहीं है कि वह एक यथार्थ स्थिति का चित्रण भर दे और उसके चिन्तन पक्ष को प्रभावी न बनाए, क्योंकि आज की रचना में सोच और अमल की स्थितियाँ गहन रूप से उभर कर आनी चाहिए ताकि

पाठक यथार्थ से परिचय पाकर उस यथार्थ के प्रति अपनी दृष्टि बना सकें। ये समस्त बातें रचनाकार के लिए परिवेश से जुड़ने की प्रामाणिकता को सिद्ध करती हैं। रचनाकार जब तक अपनी सर्जनात्मकता के माध्यम से कोई दृष्टि नहीं देता, तब तक वह रचना मात्र एक चित्रण बनकर रह जाती है। निःसन्देह, आज के कुछ वैज्ञानिक निबन्धकार परिवेश के प्रति जागरूक तो हैं ही, संवेदनशील भी अधिक हैं और उनकी इस संवेदनशीलता ने उनमें विशेष आत्मा-सजगता का भी विकास किया है। इसी आत्म-सजगता की प्रवृत्ति से प्रेरित होकर वे अपनी रचना में परिवेशका यथार्थ और अन्तरंग परिचय देने में सक्षम हुए हैं। यह भी सत्य है कि समय के साथ-साथ परिवेश बदलता है, अतः रचना में यह बदलता हुआ परिवेश चिन्हित होता है। आज की रचना के सम्बन्ध में पारिवेशिक यथार्थ के साथ-साथ अनुभवगत सत्यता एवं मूल्यों का प्रश्न भी जुड़ा हुआ है। बदलते परिवेश के साथ मूल्य-व्यवस्था में भी पर्याप्त बदलाव आता जाता है। यद्यपि प्रत्येक युग के मूल्य कुछ समय पश्चात 'आउट आफ डेट' हो जाते हैं किन्तु आज की जो परिस्थितियाँ हैं उनमें मूल्यों के टूटने और परिवर्तन की स्थिति बड़ी द्रुतगामी है। इस परिवर्तन की प्रक्रिया इतनी तीव्र है कि अब किसी युग विशेष के मूल्य पिछले युग के जीवन मूल्यों से ही अलग नहीं दिखाई देते अपितु आज एक ही व्यक्ति अपने छोटे से जीवनकाल में अथवा विभिन्न दशकों के और भी छोटे अन्तराल में मूल्य दृष्टि के इस परिवर्तन का गहरा अनुभव करता है। यही कारण है कि आज पीढ़ियों के मध्य अलगाव अधिक दृष्टिगत होता है।

मूल्यों का तेजी से परिवर्तन विज्ञान और प्रौद्योगिकी में हुए तीव्र विकास का ही परिणाम है। विज्ञान और प्रौद्योगिकी का विकास कुछ मूल्यों को तो बिल्कुल समाप्त कर देता है और कुछ मूल्यों में संस्कार कर उनको समयानुकूल परिवर्तित कर देता है, कहीं एकदम नए मूल्य भी सर्जित होते हैं, इन सबके परिणामस्वरूप हमारे समाज में भी पुरातन मूल्य समाप्त हुए। कुछ पुरातन मूल्यों का पुनर्संस्कार हुआ है और कुछेक मूल्य सर्जित होकर स्थापित हुए। जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में नवीन और पुरातन मूल्यों के बीच टकराव की स्थिति उत्पन्न हुई। कहीं पुरातन मूल्यों से लगाव का आग्रह दिखाई देता है तो कहीं नए मूल्यों को स्वीकारने की व्यग्रता भी दृष्टिगत होती है। मूल्यों के प्रति परिवर्तित होती हुई यह दृष्टि आज की रचनाओं में देखी जा सकती है।

वैज्ञानिक निबन्धकार का प्रत्येक अनुभव अनुभूति के रूप में परिवर्तित हो, यह आवश्यक नहीं है और सम्भव भी नहीं। अनुभवगत सत्य का परीक्षण करने के लिए हमें वैज्ञानिक धारणा से काम लेना पड़ेगा। अन्यथा सर्जक और अनुभूति के सम्बन्ध में कई भ्रमों के उत्पन्न होने की सम्भावना बन सकती है। जब वैज्ञानिक निबन्धकार अपने किसी अनुभव को सृजनात्मक स्तर पर ग्रहण करता है तो उसके अन्तर्मन में एक गहन और संश्लिष्ट प्रक्रिया में परिणामस्वरूप अनुभूति का जन्म होता है। बाह्य

तौर पर तो हर अनुभूति का सत्य होना सम्भव नहीं। उसके लिए मानसिक स्तर पर अनुभव से जोड़ने की आवश्यकता है, अन्यथा बाह्य तौर पर अनुभव के लिए तो निबन्धकार को हर स्थिति का भोक्ता बनना पड़ेगा, जो सम्भव नहीं।

वैज्ञानिक निबन्धकार में जिज्ञासा और एकनिष्ठ अभ्यास का होना अत्यन्त आवश्यक है। इन्हीं गुणों से रचनाकार की सृजनशीलता को बल मिलता है और प्रतिभा का भी परिमार्जन होता है, संकल्पशक्ति द्वारा इच्छाशक्ति को एकाग्रता की ओर उन्मुख करनेवाला रचनाकार ही समस्त सृजनशीलता का अधिकारी होता है। समय के प्रत्येक क्षण को लेखन सम्पदा का अति महत्त्वपूर्ण घटक मानने और उसका श्रेष्ठतम सदुपयोग करनेवाले रचनाकारों की रचनाएँ कालजयी होती हैं।

‘मैला आँचल’, मलेरिया और डागडर बाबू

सकलदेव शर्मा*

हिन्दी आंचलिक उपन्यासों के अद्वितीय ऐंद्रजालिक कथा शिल्पी फणीश्वरनाथ 'रेणु' ने पूर्णियाको 'मलेरिया और कालाआजार की क्रीड़ाभूमि' की संज्ञा दी है। वहाँ "कौओं को भी मैलेरिया होता है।" भींगी हुई धरती पर लेटा न्यूमोनिया का रोगी वहाँ मरता नहीं, जी जाता है। डी. डी. टी. और मसहरी की बात तो दूर देह में सरसों विलास/कड़वा तेल लगाना भी वहाँ कभी स्वर्गीय भोग विलास में परिगणित होता था। अतः यह अकारण नहीं है कि 'मैला आँचल'¹ के अति पिछड़े जन-जीवन में हर्षोल्लास और प्राणों में नई ऊर्जा का संचार कर देनेवाली पहली महत्त्वपूर्ण सूचना मेरीगंज में मैलेरिया सेन्टर बनने की है, "यहाँ पर एक मैलेरिया सेन्टर बनेगा। ऊपर से हुकुम आया है। यहीं बागान का जमीन में।"²

'मेरीगंज' पूर्णिया जिला का एक गाँव है जो रौतहट स्टेशन से सात कोस पूरब है। प्रथम विश्वयुद्ध से भी पहले जिस दिन अंग्रेज साहब डब्ल्यू. जी. मार्टिन ने इस गाँव में अपनी कोठी की नींव डाली थी, उसी दिन आसपास के गाँवों में ढोल बजवाकर ऐलान करवा दिया था कि आज से इस गाँव का नाम मेरीगंज हुआ। एक बार एक किसान के मुँह से जब मेरीगंज गाँव का पुराना नाम निकल गया तो मार्टिन साहब ने तत्काल उसे गिन-गिनकर पचास कोड़े लगवाए। फिर तो पुराना नाम गाँव में कभी किसी की जुबान पर चढ़ा ही नहीं। 'मेरी' उनकी सद्यःपरिणीता पत्नी थी जो 'इन्द्रासन की परी की तरह' सुन्दर थी और कलकत्ता में रहती थी। गाँव का नाम बदलकर, रौतहट स्टेशन से मेरीगंज तक डिस्ट्रिक्ट बोर्ड सड़क बनवाकर और गाँव में पोस्ट आफिस खुलवाकर मार्टिन साहब मेरी को लाने कलकत्ता चले जाते हैं।

मेरीगंज पहुँचने के लिए ठीक एक सप्ताह बाद ही जब मेरी को मलेरिया हो जाता है तो मार्टिन साहब महसूस करते हैं कि पोस्ट ऑफिस के पहले यहाँ एक डिस्पेन्सरी खुलवाना चाहिए था। कुनैन की टिकिया से जब तीसरे दिन भी मेरी का बुखार नहीं उतरता है तब वे अपने घोड़े को रौतहट की ओर दौड़ा देते हैं। वहाँ स्टेशन पहुँचने पर मालूम होता है कि पूर्णिया जानेवाली गाड़ी दस मिनट पहले ही जा चुकी

* डॉ. सकलदेव शर्मा सी. एम. साइंस कालेज, दरभंगा के हिन्दी विभागाध्यक्ष हैं।

है। फिर क्या था, बगैर कुछ सोचे वे अपने पंखराज घोड़े को रौतहट से बारह कोस दूर पूर्णिया की ओर मोड़ देते हैं। वे जिस समय पूर्णिया-सिविल सर्जन के बंगले पर पहुँचते हैं उस समय तक गाड़ी 'पूरैनिया टीशन' पर पहुँच भी नहीं पाई थी। सिविल सर्जन को 'हवा गाड़ी' पर साथ लेकर मार्टिन साहब जब मेरीगंज पहुँचते हैं उनकी प्रियतमा पत्नी मेरी का मैलेरिया से निधन हो चुका होता है, "नल के पास गढ़े में घुसकर घुँघराले रेशमी बालों वाले अपने सिर पर कीचड़ थोपते-थोपते वह मर जाती है।"³

मेरी की लाश दफनाने के बाद मार्टिन साहब पुनः पूर्णिया जाते हैं। सिविल सर्जन, डिस्ट्रिक्ट मैजिस्ट्रेट, डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के चेयरमैन और हेल्थ ऑफिसर से मिलकर एक छोटी-सी डिस्पेन्सरी की मंजूरी के लिए वे जमीन-आसमान एक कर देते हैं। डिस्पेन्सरी के लिए वे अपनी जमीन तक रजिस्ट्री कर देते हैं। अधिकारियों से उन्हें अगले वर्ष तक डिस्पेन्सरी खुल जाने का आश्वासन मिलता है। नीलयुग की सहसा समाप्ति हो जाने के कारण ठीक उसी समय मार्टिन साहब विक्षिप्त हो जाते हैं। बगल में रद्दी कागजों का पुलिन्दा दबाए 'पगला मार्टिन' दिन भर पूर्णिया कचहरी में चक्कर लगाते रहते हैं। मिलने वालों से कहा करते हैं, "गवर्मेंट ने एक डिस्पेन्सरी का हुक्म दे दिया। अगले साल खुल जाएगा।" कथानुसार पटना दिल्ली की दौड़ धूप के बाद एक बार वह बहुत उदास होकर मेरीगंज लौटते हैं और मेरी की कब्र पर लेट कर सारा दिन रोते हैं, "डार्लिंग, डाक्टर नहीं आएगा।"⁴ इसके पश्चात् पागलपन अधिक बढ़ जाने के कारण अधिकारियों द्वारा वे कांके भेज दिए जाते हैं। वहीं कांके के पागलखाने में उनकी मौत हो जाती है।

मेरीगंज एक बड़ा गाँव है जिसमें 'बारहो बरन' के लोग रहते हैं। कायस्थ, राजपूत और यादव गाँव के तीन प्रमुख दल हैं। ब्राह्मणों की संख्या कम होने के कारण वे हमेशा तीसरी शक्ति का काम करते हैं। राजपूतों और कायस्थों में पुश्तैनी मनमुटाव और झगड़े होते रहते हैं। ठाकुर राम किरपाल सिंघ राजपूत टोली के और खेलावन यादव यादवों के मुखिया हैं। गाँव के एकमात्र मालिक और एकछत्र जमींदार तहसीलदार बाबू विश्वनाथ प्रसाद मल्लिक हैं। गाँव की मुख्य पैदावार धान, पाट और खेसारी है। कभी-कभी रब्बी की फसल भी अच्छी हो जाती है।

'मैला आँचल' के तृतीय परिच्छेद में डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के मिस्त्री लोग डिस्पेन्सरी के सिलसिले में आते हैं। स्वराजी बालदेव के उत्साह का कोई ठिकाना नहीं है। गाँव के प्रत्येक टोले में घूम-घूम कर वे कहते हैं "कल से काम शुरू हो जाना चाहिए। मलेरिया बोखार मच्छड़ काटने से होता है, मगर कुनैन खाने से जितना भी मच्छड़ काटे, कुछ नहीं होगा।"⁵ प्रायः प्रत्येक टोली के लोग बालदेव को वचन देते हैं, "सात दिनों तक कोई काम नहीं करेंगे। मालिक लोगों से कहिएहल फाल कोड़ कमान बन्द

रखें। करना ही क्या है? एक इसपिताल का घर, एक डागडर बाबू का घर, एक भनसाघर और एक घर फालतू। सात दिनों में ही सब काम रैट हो जाएगा।”⁶

ब्राह्मण टोली के लोगों ने जिस दिन से अस्पताल के विषय में सुना है दिन रात डाक्टर और अंग्रेजी दवा के खिलाफ विषवमन करते चले आ रहे हैं। जोतखी जी का विश्वास है कि डाक्टर लोग ही रोग फैलाते हैं। सूई भोंक कर देह में जहर दे देते हैं। ठाकुर रामकिरणपाल सिंह के दरवाजे पर शिवशंकर सिंह का बेटा हरगौरी बालदेव को खरी खोटी सुनाकर अपमानित करता है। बालदेव के इस अपमान से गुअर टोली के बूढ़े-बच्चे खौलने लगते हैं। वहाँ किसी ने कह दिया है कि हरगौरी ने बालदेव को जूते से मारा है। अतः कुकुरु का बेटा कलचरना ‘काली किरिया’ खाता है “हरगौरी का खून पीएँगे।” मेरीगंज के महंथ सेवादास को सतगुरु सपना देते हैं, “तुम्हारे गाँव में परमारथ का कारज हो रहा है और तुमको मालूम नहीं? तुम सारे गाँव को एक भंडारा दे दो।”⁷

अस्पताल के सभी घर बनकर तैयार हो जाते हैं। सिर्फ मिट्टी साटना बाकी रह गया है। बिरसा माँझी ने कहा है संथाल टोली की सभी औरतें आज आकर मिट्टी लगा देंगी। अगले शनिवार को डागडर बाबू आनेवाले हैं। बालदेव जी डिस्ट्रिक्ट बोर्ड से सभी सामान ले आए हैं। तहसीलदार के यहाँ कुर्सी बेंच, बड़े-बड़े बक्से में दवा, बाल्टी, कठौता, लोटा आदि सब कुछ रखा हुआ है। पानी का नल लगाया जाएगा और शनिवार को ही महंथ साहब का भंडारा होगा। सारे गाँव के औरत-मर्द, बूढ़े-बच्चे और अमीर-गरीब को महंथ साहब पूड़ी-जिलेबी का भोज खिलाएँगे।

वयोवृद्ध जोतसी जी के अनुसार लक्षण अच्छे नहीं हैं। गाँव का ग्रह बिगड़ा हुआ है। किसी दिन इस गाँव में खून होगा और गिद्ध कौवा उड़ेगा। और यह अस्पताल? अभी तो नहीं मालूम होगा। जब कुएँ में दवा डालकर गाँव में हैजा फैलाएगा तब समझना।

मेरीगंज में डाक्टर आने के पहले उनका नौकर प्यारु आता है। रौतहट स्टेशन पर जो ‘हेमापोथी डागडर साहब’ थे, प्यारु उनके यहाँ पाँच साल नौकरी कर चुका है। उसने सुना है मेरीगंज में डागडर बाबू आ रहे हैं। अतः प्यारु डागडर बाबू के पास नौकरी करने आ गया है। ‘भुरूकुवा’ उगने के पहले ही तहसीलदार बैलगाड़ियों को विदा कर चुके हैं। पछियारी टोला के पास अब पाँचों बैलगाड़ियाँ आ रही हैं। अगमू चौकीदार गाड़ियों के आगे-आगे दौड़ता हुआ आ रहा है। उसके कंधे पर ‘रेडी’ का बक्सा है, “अब सुनिएगा रोज बम्बै, कलकत्ता का गाना। महतमा जी का खबर, पटुआ का भाव सब आएगा इसमें। तार में ठेस लगते ही गुस्सा कर बोलेगा, ‘बेकूफ’।... ‘जुलुम बात।’⁸ इस तरह ‘मैला आँचल’ में पूरे राजसी ठाठ-बाट के साथ डागडर बाबू का पदार्पण होता है। वे नवीनता और आधुनिकता के जीवंत प्रतीक हैं। अपने माथे पर वे ‘टोपा’ पहने हुए हैं। अपनी अगुवानी में पूरे गाँव को हाथ जोड़े खड़ा देखकर

वे भी हँसते हुए हाथ जोड़ देते हैं। उनके चेहरे का रंग एकदम लाल है। ‘मोँछ नहीं है क्या?’ नहीं मोँछ सफाचट कटाए हुए हैं।”

बालदेव जी डाक्टर को सूचना देते हुए कहते हैं कि इस गाँव के महंथ साहब ने ‘इसपिताल’ होने की खुशी में आज गाँववालों को भंडारा दिया है। उनसे भी भोजन करने का आग्रह किया जाता है। वे कहते हैं, “हम अभी नहीं खाएँगे। सबों को खिलाइए।” सचमुच प्यारु पुराना नौकर है क्योंकि डागडर बाबू सबसे पहले साबुन से हाथ धोते हैं। लछमी दासिन टकटकी लगाकर उन्हें देख रही है, “कितना सुन्दर पुरुष है। बेचारे का इस देहात में मन नहीं लग रहा है।...” बाद में अस्पताल खुलने की सूचना रौतहट हाट में शोभन मोची द्वारा ढोल बजाकर दी जाती है।

‘मैला आँचल’ के नवम परिच्छेद में पृष्ठ पचपन पर ‘रेणु’ अपने पाठकों को डागडर बाबू का पूरा नाम बतलाते हैं डाक्टर प्रशान्त कुमार। पर केवल नाम पूछने या जानने से ही काम चलनेवाला नहीं है। नाम पूछने के बाद ही आज भी पूर्णिया में लोग पूछते हैं ‘जाति?’ जीवन में बहुत कम लोगों ने प्रशान्त से जाति के विषय में पूछा है, लेकिन यहाँ तो हर आदमी जात पूछता है। प्रशान्त हंसकर कहता है, “जाति? डाक्टर।”

“डाक्टर? जाति डाक्टर!...बंगाली हैं या बिहारी? ‘हिन्दुस्तानी!; दुबारे हँसकर डॉ. जबाब देता है।”

कहना नहीं होगा कि ‘मैला आँचल’ में ‘रेणु’ ने इस डाक्टर के चरित्र और व्यक्तित्व का अत्यन्त आकर्षक, विश्वसनीय और कलात्मक चित्रण किया है। मेरी दृष्टि में डाक्टर प्रशान्त और मैलेरिया सेन्टर का ‘मैला आँचल’ में वही स्थान है जो ‘गोदान’ में होरी और उसकी गाय का है। होरी की तरह उपन्यास का नायक न होते हुए भी वह उपन्यास और पाठकों के आकर्षण का केन्द्रबिन्दु तो है ही। अज्ञात कुलशील वाले इस डॉ. का भले ही कोई ‘तालपता’ न लगे लेकिन उपन्यास के उस बीहड़ प्रदेश में, जहाँ ‘रेणु’ के शब्दों में “फूल भी है, शूल भी; धूल भी, गुलाल भी; कीचड़ भी, चंदन भी; सुन्दरता भी, कुरुपता भी”; उसका नाम और ‘जस’ तो है ही। ‘विशुद्ध मिथिला की सुन्दरता’ निरमला बाइस कोस दूर से डागडर बाबू को अपनी आँखें दिखलाने के लिए आती है जो एक बूँद आई ड्रॉप के बगैर सदा के लिए ज्योतिहीन हो गई हैं और अब इलाज से परे हैं।

सचमुच इस डाक्टर की मुस्कुराहट बड़ी जानलेवा है। तहसीलदार बाबू विश्वनाथ प्र. मल्लिक की इकलौती कुँवारी बेटी कमला तभी तो ‘प्राणनाथ’ के सम्बोधन से उसे पत्र लिखा करती है और बाद में उसके बच्चे कुमार नीलोत्पल की बिन ब्याही माँ बनती है। डाक्टर आदमी नहीं देवता है देवता। गाँव में हैजा फैलने पर वह एक पैसा भी फीस नहीं लेता है और मुफ्त में रात-रात भर जागकर लोगों का इलाज करता है। रेसम लाल कोयरी के इकलौते बेटे को वह ‘जम’ के मुँह से छुड़ा लेता है। रेसम

खुशी-खुशी एक गाय डॉ. को 'बक्सीस' में देता है, लेकिन डॉ. उससे कहता है, "अपने लड़के को इस गाय का दूध पिलाओ।...यही हमारा बक्सीस है।"⁹

डॉक्टर के कारण कायस्थ टोली, संधाल टोली और यादव टोली में एक भी आदमी बीमार नहीं होता है। राजपूत टोली में पाँच-सात आदमी हैजाग्रस्त होते हैं लेकिन डॉ. सबों को बचा लेता है। प्यारू ठीक ही कहता है, "डॉक्टर साहब दुनिया भर को आराम कर रहे हैं, लेकिन खुद बीमार होते जा रहे हैं। खाना-पीना तो एकदम कम हो गया है।"¹⁰ आश्चर्य नहीं कि गाँव के लोग डॉ. को 'हैजा डॉक्टर' कहने लगते हैं। इसी हैजा के कारण डॉ. आसपास के पन्द्रह गाँवों का परिचय प्राप्त करता है। बीमार, निराश लोगों की आँखों की भाषा समझने की चेष्टा करता है। झोपड़ियों में रोगियों को देखकर उठते समय छींके पर टँगी हुई खाली मिट्टी की हाँड़ियों से उसका सिर टकराता है। सात महीने के बच्चे को बथुआ और पाट के साग पर पलते देखता है। गरीबी, गंदगी और जहालत से भरी हुई दुनिया में भी उसने कमला नदी के गड्ढों में खिले हुए कमल के फूलों की तरह सुन्दरता को जन्म लेते हुए देखा है। जिन्दगी के भोर में जो लुभावने, मनोहर और सुन्दर दीखते हैं और सूरज की गर्मी तेज होते ही कुम्हला जाते हैं। शामिल होने से पहले ही पपड़ियाँ झड़ जाती हैं। डॉक्टर के अनुसार कश्मीर के कमल और पूर्णिया के कमल में शायद यही अन्तर है। चैत महीने की एक शाम को कमला के साथ डॉक्टर को अस्पताल जाते देखकर पनघट पर स्त्रियों की भीड़ आँखें फाड़कर दोनों को देखती है। झगड़े बन्द हो जाते हैं। पानी भरना रूक जाता है। नजर से ओझल होने के बाद ही फिर सबों के मुँह खुलते हैं, "...कमली अब आराम हो गई। डॉक्टर साहब ने इसको बचा लिया।...दोनों की जोड़ी कैसी अच्छी है।...डॉक्टर भी कायस्त है क्या? कौन जात है? क्या जाने बाबा, इलाज करते-करते कहीं..."¹¹

डॉ. प्रशान्त की जन्मकथा 'रेणु 'मैला आँचल' के नवम परिच्छेद में हमें विस्तारपूर्वक बतलाते हैं। उसकी जन्मदात्री माँ ने मिट्टी की एक हाँड़ी में डालकर बाढ़ से उमड़ती कोशी मैया की गोद में उसे डाल दिया था। नेपाल-निष्कासित उपाध्याय परिवार ने उन दिनों सहरसा में 'आदर्श आश्रम' की स्थापना की थी। डॉ. अनिल कुमार बनर्जी की परित्यक्ता पत्नी स्नेहमयी उसी आश्रम में रहती थी। हाँडी में मिले बच्चे को लाकर जब उपाध्याय दम्पति उसकी गोद में डाल देते हैं तो वह आनन्द विभोर होकर चीख उठती है, "प्रशान्त?...आमार प्रशान्त" उसीदिन से प्रशान्त उसका इकलौता बेटा हो जाता है। निष्कासन समाप्ति के बाद अपनी माँ के साथ प्रशान्त भी उपाध्याय परिवार का ही सदस्य बन जाता है। 1942 के देशव्यापी आन्दोलन में हाउस सर्जन प्रशान्त को भी बाँकीपुर जेल, पटना में नजरबन्द कर दिया जाता है। 1946 में कांग्रेसी मंत्रिमंडल के गठित होने पर वह मंत्री के बंगले पर जाकर पूर्णिया के किसी गाँव में मैलेरिया कालाजार पर अनुसंधान करने की स्वीकृति लेकर ही रहता है।

पूर्णिया के उस बज़्र देहात मेरीगंज पहुँचने के साथ ही वह अनुसंधान शुरू कर देता है। सुबह सात बजे से ही रोगियों की भीड़ लग जाती है। फिर तो पूर्णिया की मिट्टी का मोह उस पर ऐसा सवार होता है कि वह वहीं का होकर रह जाता है। अन्ततः अखिल भारतीय मेडिकल गजट में उसके रिसर्च की रिपोर्ट प्रकाशित होते ही सर्वत्र उसके नाम की धूम मच जाती है। पटना मेडिकल कॉलेज को इस बात पर असीम गर्व है कि बिहार का एकमात्र मैलेरियोलॉजिस्ट उसकी देन है। मेरीगंज का बेटार का खबर लुच्चा सुमरित दास भी उसे सर्टीफिकेट देता हुआ कहता है, "आदमी काबिल है यह डागडर।"

इस तरह डॉ. प्रशान्त " 'मैला आँचल' का सर्वाधिक सुयोग्य, सजीव, संवेदनशील, विश्वसनीय, परदुःखकातर और अतिमहत्त्वपूर्ण पात्र है। हिन्दी उपन्यासालोचन के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हस्ताक्षर डॉ. गोपाल राय जी के अनुसार वह रेणु की सम्पूर्ण संवेदना का वाहक, प्रतिनिधि, प्रवक्ता; सपनों और आदर्श का प्रतीक"¹² है। यहाँ एक महत्त्वपूर्ण सवाल अनायास हमारे समक्ष खड़ा हो जाता है। डॉ. प्रशान्त के चरित्र को इतना जीवन्त, आकर्षक और विश्वसनीय बनाने में आखिर 'रेणु' को इतनी सफलता मिली कैसे? क्या 'मैला आँचल' के इस कल्पित पात्र के पीछे हाड़ मांस का कोई जीवित व्यक्ति नहीं रहा होगा जिसे रेणु ने अपने जीवन में शायद अत्यन्त निकट से देखा हो? आपको जानकर आश्चर्य होगा, इस दिशा में खोज करते ही हमें अत्यन्त सुखकर, विस्मयजनक परिणाम मिले। 'रेणु' के घर के बिलकुल पास डॉ. प्रशान्त के अप्रतिम जीवित प्रतिरूप डॉ. अलख निरंजन पिछले इकहतर वर्षों से अपनी धूनी रमाये बैठे थे। अलमस्त किसी जोगी की तरह अपनी साधना में निमग्न, हिमालय की तरह दिव्योज्ज्वल महामौन को धारण किए हुए। हम उन तक पहुँच पाते इसके पहले काल ने उन्हें हमसे छीन लिया। सामेवार, 7 जून 2004 की रात्रि में उनका निधन हो गया।

अलख बाबू अपने जीवन काल में ही मिथक, जीवित किंवदन्ती बन चुके थे। उनका जन्म गुरुवार 24 नवम्बर 1904 को अपनी ननिहाल, ग्राम सिहीन, जिला गया, में हुआ था। नाना का दिया हुआ उनका नाम 'श्री' था। स्वभाव से अतिशय शान्त और गम्भीर होने के कारण बाद में पिता में उन्हें 'अलख निरंजन' नाम दिया उनके पिता सतगुरु प्रसाद भागलपुर के उत्पाद (एक्साइज) विभाग में 'बड़ाबाबू' थे। स्वर्गीय गंगा प्रसाद उनके पितामह थे। उनका मूल पैतृक गाँव 'नन्दलाल बीघा' है जो थाना हसुआ जिला गया, सम्प्रति जिला नवादा के अन्तर्गत आता है। उनकी माता का नाम श्रीमती विन्ध्येश्वरी देवी था, जिन्हें उनके स्वजन विन्ध्यवासिनी देवी भी कहा करते थे। अलख बाबू अपने भाइयों में सबसे बड़े थे। रेवती रमण, जगदीशशरण, नारायण प्रसाद और सबसे छोटे भुवनेश्वर प्रसाद सिन्हा उनके भाइयों के नाम थे जिन्हें उन्होंने एक-एक कर अपने जीवनकाल में ही असमय मृत्यु को प्राप्त होते देखा। अपने सभी भाइयों और उनके सभी बच्चों को अलख बाबू ने हमेशा बेटे जैसा स्नेह दिया और

उनके सुख-दुःख में वे आजीवन सहभागी बने रहे। 1922 ई. में जिला स्कूल, भागलपुर से मैट्रिक और 1925 ई. में टी. एन. जे.; सम्प्रति टी. एन. बी. कॉलेज, भागलपुर से उन्होंने आई. एस-सी. की परीक्षा उत्तीर्ण की थी। पढ़ने में मेधावी होने के कारण प्रस्तांक के आधार पर उनका चयन मेडिकल और इंजीनियरिंग, दोनों में हो गया था। मेडिकल को प्रथमता देकर प्रिंस ऑफ वेल्स मेडिकल कॉलेज, सम्प्रति पी. एम. सी. एच. पटना के एम. बी. बी. एस. प्रथम बैच के वे छात्र बने। उस समय स्त्री रोग विज्ञान, गायनिकॉलॉजी की पढ़ाई पटना में नहीं होती थी। अतः प्रथम वर्ष गायनिकॉलोजी की पढ़ाई के लिए कॉलेज की ओर से उन्हें बेंगलोर भेजा गया था। सन् 1931 में उन्हें एम. बी. बी. एस. की डिग्री मिली थी। चिकित्सक बनने भी भीष्म प्रतिज्ञा उन्होंने बहुत पहले कर ली थी। टी. एन. जे. कॉलेज के छात्र काल में उनकी एक बहन बीमार हो गई थी। अर्थाभाव में किसी डाक्टर ने उसकी चिकित्सा नहीं की और वह मर गई। बहन की असामयिक मृत्यु से उनके दिल को गहरी चोट लगी। मन-ही-मन उसी दिन उन्होंने संकल्प किया कि, “मैं डाक्टर बनूँगा और धनाभाव में किसी को मरने नहीं दूँगा।” अपने इस संकल्प को आजीवन उन्होंने न केवल स्मरण रखा वरन् पूरी निष्ठा के साथ उसका परिपालन भी किया।

अलख बाबू के सबसे छोटे अनुज भुवनेश्वर प्र. सिन्हा जिस समय मात्र नौ वर्ष के थे, उसी समय उनके माता-पिता का निधन हो गया। अलख बाबू अपने सभी भाइयों के साथ फारबिसगंज में थे। आवागमनादि की दुर्गमता के कारण वे माता-पिता को मुखाग्नि देने से भी वंचित रह गए। यह पुनीत कार्य भागलपुर निवासी कामेश्वर सहाय उर्फ पत्तो बाबू ने किया। उनके इस शानदार सामाजिक कृत्य से उपकृत और अभिभूत अलख बाबू ने उनकी एक पुत्री को अपनी पुत्रवधू बनाने का वचन दिया। कालान्तर में पत्तो बाबू की पुत्री सरोज की शादी अपने चौथे पुत्र श्याम निरंजन के साथ सम्पन्न करवाकर उन्होंने उसे अपनी पुत्रवधू बनाया। बाद में श्याम निरंजन की असामयिक मृत्यु हो जाने पर उन्होंने सरोज को न केवल पढ़ाया लिखाया और अपने पैरों पर खड़ा किया वरन् उसके सभी बच्चों की शिक्षा-दीक्षा और शादी विवाह का भी यथोचित प्रबन्ध किया। सरोज आज भी महिला कॉलेज, अररिया में प्राध्यापिका हैं।¹³ स्व. श्याम निरंजन अररिया में अधिवक्ता थे।

अलख बाबू की शादी 1921 ई. में हुई थी। उनकी धर्मपत्नी श्रीमती सीता देवी सेवा, त्याग, ममता, वात्सल्य और कर्मठता की देवी थीं। अपने चारों देवरों, देवरानियों और उनके बच्चों को उन्होंने हमेशा अपना स्नेह दिया। पति से उनके सम्बन्ध आजीवन मधुर बने रहे। वे जैसे एक-दुजे के लिए ही बने हुए थे। दोनों के दोनों धर्मपरायण, दानशील और उदारमना थे। ईश्वरानुकम्पा में अडिग विश्वास के कारण उन्होंने न कभी अपनी चिन्ता की न अनागत भविष्य की। दुर्दिन और वृद्धावस्था के लिए भी उन्होंने कभी कोई कोष जमा नहीं किया। दूसरों की सुख-सुविधा का सदा

खयाल रखा और गृहागत अतिथियों के स्वागत सत्कार में कुछ भी उठा नहीं रखा। सुदीर्घ दाम्पत्य जीवन में सीता देवी हमेशा अपने पति परमेश्वर की ‘मनोरमा मनोवृत्तानुसारणीम्’ सखि, सचिव, गृहिणी बनी रहीं। ‘दूधो नहाओ पूतों फलो’ के प्राचीन भारतीय आशीर्वचनानुसार निरंजन दम्पति को नौ पुत्र और तीन पुत्रियाँ हुईं। वे हैं अवध निरंजन, डॉ. देव निरंजन, लीला, डॉ. शिव निरंजन, श्याम निरंजन, डॉ. गोपाल निरंजन, प्रमिला, इंजी. ललित निरंजन, डॉ. अजीत निरंजन, डॉ. अशोक निरंजन, डॉ. रीता निरंजन तथा नवीन निरंजन,

इनमें अवध निरंजन और श्याम निरंजन असमय भगवान को प्यारे हो गए। अपने पति परमेश्वर और बृहत्तर परिवार के सम्पूर्ण दायित्वों का अतिखूबसूरती के साथ निर्वहन करते हुए विगत वर्ष मंगलवार, 14 जनवरी 2003 को पावन मकर संक्रान्ति के पर्व दिन सीता देवी सुहागिन स्वर्ग सिंघार गईं।

अलख बाबू शान्त, सात्त्विक प्रवृत्ति के साँवले छरहरे मितभाषी पुरुष थे। सरलता, सादगी और निष्कपटता उनमें कूट-कूटकर भरी हुई थी। वे हमेशा प्रसन्नचित्त रहा करते थे। अवसाद, असन्तोष या झुंझलाहट की कोई रेखा कभी उनके आनन को म्लान नहीं कर सकी। ईश्वर में अटूट आस्था के बावजूद वे काम को ही पूजा और पीड़ित मानवता की सेवा को ही सच्ची ईश्वर सेवा समझते थे। उनका कहना था, “पूजा मन की चीज है। मैं मन से दुःखी मनुष्यों की सेवा करता हूँ और मैं सुखी सन्तुष्ट हूँ।”¹⁴ अपने तन-मन के स्वास्थ्य और घर गृहस्थी को उन्होंने वित्तात्मानुशासन से संभाल संजोकर रखा था। वे अल्पहारी थे पर सुरुचिपूर्ण, सुस्वादु भोजन के प्रेमी और प्रशंसक थे। कुछ समय पहले उनके पंचम पुत्र डॉ. गोपाल निरंजन, ने मुझे बताया कि, “अलख बाबू सालो भर लगभग एक ही खाना खाते थे। दिन में चावल-दाल सब्जी, रात में चार रोटियाँ और दूध। मांस मछली बहुत कम। कभी-कभार!” कबीर की तरह वे भी जस की तस चदरिया धर देनेवाले मस्तमोला संत गृहस्थ और फकीर थे। वृद्धावस्था के अतिरिक्त उन्हें कभी कोई बीमारी नहीं हुई। जीवन के अन्तिम दिनों तक वे रुग्ण मानवता की सेवा करते रहे। परिचितों, पत्रकारों ने जब भी उनसे उनके सुन्दर स्वास्थ्य का राज पूछा, हमेशा उन्होंने एक ही जबाब दिया, “कम भोजन और ज्यादा काम? लेस फूड एण्ड मोर वर्क।” वे सुबह शाम दिन में केवल दो बार चाय लिया करते थे।

‘कैपस्टन’ सिगरेट अलख बाबू की एकमात्र सबसे बड़ी दुर्बलता थी। बीस लम्बे वर्षों तक वे ‘चेन स्मोकर’ बने रहे। बुझती सिगरेट से वे हमेशा दूसरी सिगरेट सुलगा लिया करते थे। एक बार जब उन्हें अपने एक सिगरेट प्रेमी मरीज में कैंसर के लक्षण दृष्टिगोचर हुए तो उन्होंने तत्काल सिगरेट छोड़ दी। डॉ. सत्येन्द्र कुमार सिन्हा ‘निगम’ के अनुसार स्वयं अलख बाबू के गले में दर्द हुआ था तब उन्होंने कैंसर के भय से

सिगरेट छोड़ दी थी।¹⁵ खैर, जो भी हो दृढ़ संकल्पी होने के कारण उन्होंने फिर कभी दुबारे सिगरेट का सेवन नहीं किया।

आदमी तो आदमी अलख बाबू को जानवरों से भी बेहद प्यार था। उनके पास पालतू पशु-पक्षियों की कोई कमी नहीं थी। हाथी-घोड़ा, गाय-कुत्ता, बतख-मुर्गियाँ और न जाने क्या-क्या उन्होंने फारबिसगंज में पाल रखे थे। पहले वे घोड़ा या घोड़ागाड़ी पर मरीजों को देखने निकला करते थे। घोड़ा चोरी चले जाने के बाद उन्होंने रिक्शा से यह काम लेना प्रारम्भ कर दिया था। बमभोला झा और तीरपति झा उनकी गाड़ी के चालक थे। योगेश्वर पासवान तथा लखन राय रिक्शाचालक और भभी पासवान कोचवान थे। बद्री कामत, बुच्चू राय, विन्देश्वरी यादव निजी सेवक सहायक, दैनी चौबे और जगन झा पाक प्रबन्धक/खानासामां और इनके अतिरिक्त ढेरों कम्पाउण्डर, टेकनिशियन, ट्रेसर, नर्स और झाड़ू देनेवाले थे। कुर्बानअली, मोहिउद्दीन, मकसूद, काली पद घोष, हरिबाबू और वृजमोहन प्र. वर्मा, आदि उनके 'प्यारू' जैसे प्यारे कम्पाउण्डर थे।¹⁶

अलख बाबू कवि-साहित्यकार 'वर्तिका' त्रैमासिक हिन्दी पत्रिका के प्रधानसम्पादक और पूर्णिया के सुख्यात चिकित्सक डॉ. सत्येन्द्र कुमार सिन्हा 'निगम' के आदरणीय फूफा थे। अपने फूफा के पहनावे/परिधान के सम्बन्ध में जानकारी देते हुए डॉ. निगम कहते हैं, "डॉ. साहब प्रायः धोती और लम्बा बुशर्ट धारण किए रहते और धोती के ऊपर चमड़े का एक बेल्ट लगा रहता।" हाफ पैट पहनकर भी वे अपने मरीजों को प्रायः देखने जाया करते थे। उनमें सच्चे सुपरमैन, महामानव के सभी गुण विद्यमान थे। उदारमना होने के साथ ही वे निरभिमानी और निर्भीकमना भी थे। 1972 के विधान सभा चुनाव में प्रत्याशी बनकर 'रेणु' फारबिसगंज पहुँचे। पूर्व विधायक सरयू मिश्र का शहर में खूब दबदबा था। उनके विरोध में खुलकर 'रेणु' की मदद के लिए वहाँ न कोई तैयार हुआ, न चुनाव कार्यालय खोलने के लिए ही कहीं जगह मिली। वे अलख बाबू के पास आए। अलख बाबू ने उनकी हर संभव मदद की और चुनाव कार्यालय खोलने के लिए अपना गोदाम, परिसर भी दे दिया। सरयू बाबू को यह सब अच्छा नहीं लगा, पर वे अलख बाबू का करते क्या? सरयू बाबू के लिए बाद में वोट मांगने जब उनके मित्र नाजो मिश्र पहुँचे तो अलख बाबू ने उनसे स्पष्ट कहा, "मैं आपको वचन देता हूँ कि अपनी पत्नी के साथ सरयू बाबू को ही वोट दूँगा परन्तु मैं अपने परिवार के अन्य सदस्यों को इसके लिए बाध्य नहीं करूँगा।"¹⁷

फारबिसगंज में राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी के आतिथ्य और वाहन प्रबन्ध का सौभाग्य अलख बाबू को सहज सुलभ हो गया था। स्वतन्त्रता संग्राम हेतु डाक्टर दम्पति ने 1936 में महात्माजी को मुक्तहस्त होकर धनराशि दी थी। राष्ट्रपति बनने के पूर्व और पश्चात् डॉ. राजेन्द्र प्रसाद और बाबू जगजीवन राम प्रभृति राष्ट्रीय राजनेता जब भी फारबिसगंज जाते, अलख बाबू के यहाँ ही उनके रहने और खाने-पीने

की व्यवस्था होती थी। स्व. ललित नारायण मिश्र छात्र जीवन से ही उनके अनन्य मित्र थे। नेपाल के बी. पी. कोइराला, एम. पी. कोइराला उनके मित्र और मरीज दोनों थे। सुप्रसिद्ध लेखक 'द्विजदेनी' जी, रेणु जी और अमरचन्द दास से उनके अन्तरंग आत्मीय सम्बन्ध थे। जैसे को कभी कोई महत्त्व न देकर उन्होंने सदैव मनुष्य और उसकी गरिमा को सर्वोच्च सम्मान और स्थान दिया। उनकी उच्चाशयता को देखते हुए अपने सारे पुरातन मतभेदों को भुलाकर सरस्वती और लक्ष्मी ने 'निरंजन परिवार' को अपना शाश्वत निवास बना लिया है। सामाजिक शैक्षिक उत्थान की दिशा में भी अपनी व्यस्तता के बावजूद उन्होंने महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। फारबिसगंज के एक मात्र उच्च विद्यालय 'ली एकेडमी' के वे वर्षों व्यवस्थापक सचिव रहे। उच्च शिक्षा, तकनीकी शिक्षा और स्त्री शिक्षा के भी वे पुरोध, पंडित और अग्रदूत थे।

पटना विश्वविद्यालय से सन् 1931 में एम. बी. बी. एस. की डिग्री प्राप्त करने के बाद वे दो वर्षों तक गया में निजी प्रैक्टिस करते रहे। प्रभारी चिकित्सक के रूप में चयनित होकर सन् 1933 ई. में उन्होंने फारबिसगंज अस्पताल में अपना योगदान दिया। नगरपालिका और पूर्णिया जिला परिषद् द्वारा समवेत रूप से संचालित वह छोटा-सा अस्पताल तीन निर्मित एक कच्चा मकान में अवस्थित था जिसे उन्होंने बाद में विस्तारित कर एक बड़े सरकारी अस्पताल में परिणत कर दिया था। 1933 में पूर्णिया मैलेरिया, कालाआजार जैसी भयावह बीमारियों का क्रीडांगण बना हुआ था। 'काला पानी' के रूप में कुख्यात पूर्णिया के लिए लोकोक्ति ही बन गई थी

“जहर खाय नै माहुर खाय
मरै के हुए ते पुरैनिया जाय।”

पटना-गया से पूर्णिया-फारबिसगंज जाना उस समय स्वेच्छया यमपुरी जाने जैसा था। मार्ग भी अत्यन्त दुष्कर और चुनौतीपूर्ण था। महेन्द्रघाट से उफनती गंगा नदी को जहाज से और कुरसैला में कोशी नदी को नाव से पार करना पड़ता था। अपने प्राणों की बिना कोई परवाह किए किसी देवदूत की तरह अलख बाबू वहाँ पहुँच जाते हैं। मैलेरिया, फलेरिया, हैजा, घेघा, कालाआजार, डायरिया, पेचिश एवं जलजनित नाना बीमारियों से त्राहिमाम करती मानवता के असली त्राता और प्राणदाता बन जाते हैं। उस समय न वहाँ कोई दवा की दुकान थी न कहीं कोई पेटेन्ट दवा ही मिलती थी। जंगली जड़ी-बूटियों, झाड़ू-फूँक, ओझा-गुणी, डायन-जोगिन और टोना-टोटका पर ही चिकित्सा का सारा दारोमदार था। सम्पूर्ण कोशी इलाके में वे अकेले एम. बी. बी. एस. थे। नाड़ी परीक्षण और रोग-निदान में उनका न कोई विकल्प था, न जवाब। मात्र एक कम्पाउण्डर और सफाई-कर्मी की सहायता से लोगों की सेवा में वे समर्पित निष्ठा के साथ जुट जाते हैं। स्वयं मिक्सचर बनाकर अस्पताल में रोगियों को देते हैं। इलाज, मरहम पट्टी, सूई देने का काम सुबह-शाम अविराम करते रहते हैं। 'डागडर बाबू की

सूई में जादू है' ऐसा उनके मरीजों का कहना था। अस्पताल आने में असमर्थ रोगियों तक चाहे जैसे भी हो, तमाम व्यवधानों को पार कर वे पहुँच ही जाया करते थे। हाथ में कैपस्टन सिगरेट, गले में आला लटकाए अपने मेडिकल बॉक्स के साथ हाथी, घोड़ा, टमटम, रिक्शा सायकिल या फिर पाँव पैदल वे सर्वत्र किसी-न-किसी तरह पहुँच जाया करते थे। हाफ पैंट में भी, कीचड़ पानी की परवाह किए बिना। अपने घर पर या चिकित्सार्थ मरीजों के घर जाने पर उन्होंने अपने जीवन में कभी किसी से फीस की माँग नहीं की। आदर, श्रद्धा, सामर्थ्य या हर्षातिरेक में मरीज जब जहाँ जो कुछ उनके हाथ में रख देते थे, उसे बिना देखे सुने, गिने वे चुपचाप अपनी जेब में रख लिया करते थेजिसने दिया उसका भी भला और जिसने न दिया उसका और भी भला। उन्होंने निर्धन-से-निर्धन मरीजों की न केवल सहर्ष सेवा की वरन् दवा भोजन और रुपयों से भी उनकी हमेशा सहायता की। डॉ. निगम के साक्ष्य के अनुसार वे दूसरे डाक्टरों को भी इसके लिए प्रेरित किया करते थे। पूर्णिया जाने पर डॉ. निगम से भी वे बराबर कहा करते थे, "कुछ गरीबों का मुफ्त इलाज अवश्य करना।"¹⁸ अररिया, जोगबनी, फारबिसगंज, पूर्णिया, सहरसा की कौन कहे, सीमांचल पर अवस्थित होने के कारण पड़ोसी देश नेपाल से भी बड़ी संख्या में राजा और रंक हमेशा उनके पास आते रहते थे। 'रेणु' समेत नेपाल के पूर्व प्रधानमंत्रियों बी. पी. कोइराला और एम. पी. कोइराला की चिकित्सा उन्होंने की थी। तत्कालीन जिलाधिकारी, प्रमण्डलाधिकारी, स्थानीय जीवन बीमा निगम, भारतीय स्टेट बैंक के अतिरिक्त नेपाल नरेश महाराज महेन्द्र वीर विक्रम सिंह देव और महाराज वीरेन्द्र वीर विक्रम सिंह देव आदि के भी वे चिकित्सक और चिकित्सा सलाहकार रह चुके थे। आवश्यकता होने पर नेपाल नरेश के लिए जरूरत की दवाएँ भी अलख बाबू फारबिसगंज से भेजा करते थे। डॉ. वसीम बरेलवी की तरह वे भी खुदा से कहते रहते थे

“खुदा हमको ऐसी खुदाई न दे
कि अपने सिवा कुछ दिखाई न दे।”

रोगियों के लिए उनके घर के दरवाजे हमेशा खुले रहते थे। निस्तब्ध रात्रि में भी हल्की से हल्की आवाज या फिर द्वार पर दस्तक होते ही वे बिना किसी विलम्ब, अनुनय आलस्य के उपचार हेतु सहज समुपलब्ध और प्रस्तुत हो जाया करते थे। लोगों की उनमें इतनी अडिग आस्था थी कि मरता हुआ आदमी भी उनके यहाँ से हँसता हुआ जाता था। मरीजों के अघरों पर खिली यही मुस्कान अलख बाबू की असली कमाई और पहचान थी। सर्पदंश से पीड़ित एक निर्धन व्यक्ति एक बार उनके आवास पर आया। कम्पाउण्डर ने कहा, “सूई नहीं है?” विश्वास से भरे उस व्यक्ति ने उलट कर तत्काल कहा, “तो क्या? डागडर बाबू हैं ना! सब ठीक हो जाएगा।” डाक्टर साहब ने उसका उपचार किया और वह ठीक होकर ही गया। वस्तुतः वे पीड़ितों के

भगवान और गरीबों के मसीहा थे। उनके रिक्शा चालक योगेश्वर पासवान के समक्ष सबसे बड़ा यक्ष प्रश्न यही था कि, “बाबू के आँख मुँदने के बाद गरीबों को कौन देखेगा?” कुढ़ैली के लक्ष्मी पंडित जैसे लोगों का कहना था कि, “हम लोगों की दुआ ही डागडर बाबू को मरने नहीं देती।”¹⁹

अलख बाबू सन् 1964 ई. में सरकारी सेवा से मुक्त हो जाते हैं। उनकी सेवा निवृत्ति के कुछ दिनों के बाद ही पूर्णिया से डॉ. निगम अपने फूफा से मिलने फारबिसगंज जाते हैं। पूर्वाह्न में निरंजन निकेतन पहुँचकर उन्होंने देखा अपने गृह परिसर में काठ की एक साधारण कुर्सी पर विराजमान डॉ. साहब चालीस पचास मरीजों से घिरे उन्हें देखने में व्यस्त हैं। सामने मेज पर सिरिंज और दवाएँ रखी हुई हैं। रोग परीक्षणोपरान्त आवश्यकता होने पर वे स्वयं रोगियों को सूई भी लगा दिया करते हैं। परीक्षण समापन के बाद उन्होंने दिन का भोजन डॉ. निगम के साथ लिया फिर बिछावन पर लेटकर उनसे बातें करने लगे। इस बीच रोगी और उनके परिजन सलाह के लिए बेरोकटोक आते जाते रहे। डागडर बाबू ने घर के भीतर तक आने-जाने का जैसे उन्हें जन्मसिद्ध अधिकार दे रखा था उनके परिसर में पहुँचते ही आश्वस्त रोगी की आधी से ज्यादा बीमारी स्वतः भाग जाया करती थी। संध्या समय बाजार में घूम रहे डॉ. निगम ने सहसा रिक्शा पर सवार अपने डाक्टर फूफा को देखा। किसी पुराने रोगी को देखकर निक्शा बीच बाजार में रुकता है। मेडिकल बॉक्स से सिरिंज निकालकर वे वहीं रिक्शा पर बैठे-बैठे उसे सूई दे देते हैं और फिर रिक्शा आगे बढ़ जाता है। डॉ. निगम अपने संस्मरण में लिखते हैं, “मुझे ऐसी डाक्टरी पर आश्चर्य हुआ, किन्तु किसी डाक्टर की ऐसी सेवा पर मैं मंत्रमुग्ध हुए बिना नहीं रह सका। डॉ. साहब का हर क्षण रोगियों की सेवा में समर्पित था। न पैसों का झमेला न अन्य कोई झंझट, न समय की प्रतीक्षा, न ही अवसर का संकोच।”²⁰

अलख बाबू आजीवन अविवादित अजातशत्रु धन्वन्तरि बने रहे। चौदह रत्नों में वे सबसे दिव्य और विलक्षण थे। स्वाधीनता का राष्ट्रीय संग्राम हो, पीड़ित मानवता को परित्राण देने का प्रश्न हो या अपने वृहत्तर संयुक्त परिवार के संचालन, सम्पोषण, शिक्षण का महत्तर दायित्व हो वे बोलते कम और काम ज्यादा करते थे। आदि कवि वाल्मीकि के वचन ‘न कथनात् सत्पुरुषा भवन्ति’ अर्थात् सिर्फ बात बनाने से कोई सत्पुरुष नहीं बन सकता, को उन्होंने अपने जीवन का मूल मंत्र बना रखा था। ‘वसुधैव’ को ‘कुटुम्ब’ मानकर आजीवन उन्होंने मानवता की सेवा की। “अपना-पराया, छोटा-बड़ा, ऊँच-नीच की भावना से बहुत ऊपर उठकर वे समदर्शी सन्त पुरुष थे। सबों की सहायता के लिए वे सदैव तत्पर रहा करते थे। उनके पंचम पुत्र डॉ. गोपाल निरंजन ने कुछ महीने पहले मुझे बताया कि बाबू जी ने कदम-कदम पर ‘रेणु’ जी की सहायता की थी। अध्ययन-लेखन में भी, रूग्णावस्था में भी और 1972 के फारबिसगंज विधान सभा चुनाव में भी।”

‘जीवेम शरदः शतम्’ के प्राचीन भारतीय आशीर्वचन को अक्षरशः चरितार्थ करनेवाले अलख बाबू कभी अपना जन्मदिन नहीं मनाया करते थे। विगत वर्ष सोमवार, 24 नवम्बर 2003 को उनके सौवें वसन्त पर उनके स्वजनों, परिजन-पुरजनों ने एक अविस्मरणीय समारोह का आयोजन किया था। जन्मोत्सव के इस पावन अवसर पर ‘निरंजन परिवार’ ने उनकी स्मृति को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए 44 पृष्ठों की एक छोटी-सी अतिमोहक सचित्र पुष्पांजलि पुस्तिका का फारबिसगंज में लोकार्पण किया था। दुख की बात है कि जन्मशताब्दी वर्ष के आयोजन के पूर्व ही अलख बाबू इस संसार से विदा हो गए।

‘मैला आँचल’ के पृष्ठ आठ पर मेरी की कब्र पर लेटा पगला मार्टिन रो-रोकर बारम्बार कहता है, “डार्लिंग, डाक्टर नहीं आएगा।” मेरी और मार्टिन की दर्दनाक त्रासत मौत के बाद ही सही ‘मैला आँचल’ के पृष्ठ पैंतालीस पर डॉ. प्रशान्त का शुभागमन होता है। सोमवार, 7 जून 2004 की अर्द्धरात्रि के ठीक बाद, एक डेढ़ बजे, डॉ. प्रशान्त के जीवित प्रतिरूप डॉ. अलख निरंजन का देहावसान हो जाने के बाद अब कभी ‘मैला आँचल’ के अप्रतिम ‘डागडर बाबू’ को हम इस दुनिया में नहीं देख पाएँगे। सुदूर ग्रामीण अंचल की महिलाएँ बेतकल्लुफ होकर अब शायद कभी किसी से नहीं कह पाएँगी, “डागडर बाबू हो, बच्चा के डागडरनी से देखलाय लेलियै। माथा पर हाथ राखि दोहो जे से बच्चा ठीक होय जाए।”²¹

राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी की मृत्यु पर विश्वविख्यात वैज्ञानिक अल्बर्ट आइन्स्टीन ने कहा था कि, “आनेवाली पीढ़ियाँ इस बात पर विश्वास नहीं कर पाएँगी की हाड़ मांस का यह पुतला कभी धरती पर चलता होगा।” अलख बाबू के सम्बन्ध में भी मुझे आइन्स्टीन की यह उक्ति शत प्रतिशत सही और सटीक लगती है। अलख बाबू इन्सान नहीं, इन्सान के रूप में चलते फिरते स्वयं शंकर भगवान थे। अवदरदानी, अलख निरंजन, भगवान भूतभावन। पूर्णिया, अररिया, फारबिसगंज की स्मृति और साहित्य संस्कृति की दुनिया में वे चिरकाल तक अमर अनश्वर बने रहेंगे। उनकी यशःकाया जरा मरण के भय से परे है।

‘मैला आँचल’ का एक विलक्षण वैशिष्ट्य यह भी है कि उसने डॉ. प्रशान्त, डॉ. अलख निरंजन और इन दोनों के कल्पक-अन्वेषक उपन्यासकार ‘रेणु’, तीनों, को शाश्वत अमरता प्रदान कर दी है। ‘राज तरंगिणी’ में महाकवि कल्हण ने ठीक ही लिखा है कि अमृत पीने से केवल पीनेवाला ही अमर बन सकता है, लेकिन कवि की वाणी दोनों के शरीर को अमर बना देती है।

सन्दर्भ संकेत

1. फणीश्वर नाथ ‘रेणु’, मैला आँचल, एक आंचलिक उपन्यास, समता प्रकाशन, पटना-4, प्रथम संस्करण, 1954, पृष्ठ 409

2. उपरिवत्, पृ. 3
3. उपरिवत्, पृ. 7
4. उपरिवत्, पृ. 8
5. उपरिवत्, पृ. 12
6. उपरिवत्, पृ. 13
7. उपरिवत्, पृ. 22
8. उपरिवत्, पृ. 45
9. उपरिवत्, पृ. 183
10. उपरिवत्, पृ. 184
11. उपरिवत्, पृ. 186
12. उपन्यास की पहचान, मैला आँचल, गोपाल राय, अनुपम प्रकाशन, पटना-4, प्रथम सं. 2000, पृ.-111
13. सरोज निरंजन का संस्मरण, पुष्पांजलि, पृ.-13-14
14. डॉ. अलख निरंजन, ए लाइफ डेडीकेटेड टू सर्विस, प्रो. एम. एल. शर्मा, पुष्पांजलि, पृ. 42
15. पुष्पांजलि, पृ. 23
16. डॉ. गोपाल निरंजन, पुष्पांजलि, पृ. 9-10
17. डॉ. अजीत निरंजन, पुष्पांजलि, पृ.-26
18. डॉ. सत्येन्द्र कुमार निगम, पुष्पांजलि, पृ.-23
19. पुष्पांजलि, पृ.-33
20. पुष्पांजलि, पृ.-23
21. पुष्पांजलि, पृ.-24

पाठकीय प्रतिक्रिया

चिंतन-सृजन' का अक्टूबर-दिसम्बर 2004 का अंक मिला। इस अंक में जितने लेख आपने प्रकाशित किए हैं वह सभी पठनीय और महत्वपूर्ण हैं। ऐसी गंभीर और उपयोगी सामग्री प्रकाशित करने के लिए बहुत-बहुत बधाई। मुझे विश्वास है आप भविष्य में इसी प्रकार पठनीय और मननीय सामग्री प्रकाशित करते रहेंगे **विष्णु प्रभाकर, दिल्ली।**

आप चिन्तन-सृजन नियमित भिजवाते रहे हैं, पढ़ता-सराहता रहा हूँ। हिन्दी में एक गहरे अभाव की पूर्ति हुई है। **मुकुन्द लाठ, जयपुर**

'चिन्तन-सृजन' के दूसरे वर्ष का पहला अंक पिछले सप्ताह मिला। धन्यवाद! इससे पहले एक अंक जयपुर के एक प्रतिष्ठित कवि मित्र के पास से लेकर पढ़ा था। निश्चय ही पत्रिका अपने ढंग की अनोखी है क्योंकि इसमें जो कुछ छपता है उसके कुछ अंशों को छोड़कर शेष सब (उस तरह का) अन्य पत्र पत्रिकाओं में प्रायः नहीं मिलता। स्पष्ट ही इस पत्रिका का उद्देश्य जहाँ प्राचीन भारतीय ज्ञान विज्ञान की जानकारी देना है वहीं देशवासियों की उस हीनता-ग्रन्थि का उन्मूलन करना भी है जिसके वशीभूत हो अपनी थाती को हम महत्वहीन मानने लगे हैं। इस उद्देश्य का विरोध कोई भी समझदार भारतवासी नहीं करना चाहेगा। लेकिन इसके साथ जब हम अन्य विचारधाराओं की अलोचना उन्हें घटिया, राष्ट्रद्रोही एवं विकारग्रस्त साबित करने के लिये सायास उद्यत होते हैं तो हमारे सदुद्देश्य की कलाई खुलने लग जाती है। उदाहरण के लिये इस अंक के पहले, दूसरे, चौथे, और ग्यारहवें लेख जितने खोजपूर्ण, ज्ञानवर्धक एवं भारतीयचिन्तन को उदात्तता देने वाले हैं बाकी लेख उतने ही उथले, सारहीन एवं पक्षपात भरे हैं। क्या कोई बता सकता है कि राज थापर के लेख से पाठक को क्या ठोस उपलब्धि हो सकती है सिवाय इसके कि हमारा ही एक नेता हमारी नजरों से गिरता है। जिन लोगों को इस में पतित दिखाया गया है उनके पक्षधर इन को नंगाकरके दिखा रहे हैं। फिर दोनों में फर्क कहाँ है? क्या यह नहीं हो सकता कि आप अपनी बात कहें और वे अपनी। इसके बाद चयन का काम पाठक पर छोड़ दें। आखिर उसमें भी थोड़ा बहुत विवेक है। उसे अपने विवेक का इस्तेमाल करने दीजिये। भारत तो मत मतान्तरों का देश है। यहाँ वैष्णव, शैव, शाक्त, निरंकारी,

राधास्वामी, दिगंबर, श्वेतांबर और न जानें कितनी ही तरह की आस्थाएँ रखने वाले लोग हैं, वे अपने अपने इष्ट की आराधना करते हैं। कोई शिव या विष्णु को एक दूसरे से छोट्टा या घटिया दिखाने की कोशिश नहीं करता। बल्कि अपने मत पर अडिग रहते हुए भी अन्य देवी-देवताओं के समुख नतमस्तक होता है और उनकी अच्छाइयों की सराहना करता है। क्या हम अपनी परम्पराओं से इस तरह के सह-अस्तित्व के भाव को नहीं ग्रहण कर सकते?

एक बिल्कुल अलग तरह की पत्रिका संपादित/प्रकाशित करने के लिये आपको और आपके सहयोगियों को बधाई और इसकी लम्बी आयु के लिये हार्दिक शुभेच्छाएँ। **सुरेश पंडित, लेखक एवं समाजकर्मी, अलवर।**

'चिन्तन-सृजन' त्रैमासिक पत्रिका का जुलाई-सितम्बर 2004 का अंक प्राप्त हुआ, अनेकशः धन्यवाद। यह अंक ख्यात-नामा लेखकों की रचनाओं के साथ-साथ संपादक की चयनित प्रक्रिया के कारण सुंदर और महत्वपूर्ण बन सका है। प्रतिपाद्य सामग्री में विद्या नायपॉल की दो यात्रा कृतियों का डॉ. रमेश चंद्रशाह ने बहुत ही यथातथ्य वर्णन प्रस्तुत किया है। 1976 से 82 तक भारतीय हाई कमीशन त्रिनिदाद में द्वितीय सचिव एवं हिन्दी अधिकारी के पद पर कार्य करते हुए मैंने यह अनुभव किया कि 19वीं शती के मध्य में अंग्रेजों ने गन्ने की खेती के लिये जिन आप्रवासी बंधुओं को शर्तबंध प्रथा के आधार पर मारीशस,

फिजी, सूरीनाम, त्रिनिदाद, गयाना, दक्षिण अफ्रिका आदि में मजदूर बनाकर भेजा वे अपनी जीवंत प्रेरणा के आधार पर शाम को चौपाल में झाल लेकर रामायण, कबीरा, रसिया, होरी, कजरी आदि गाकर भारतीय संस्कृति से जुड़े रहे और आजतक भारतीय संस्कृति के सभी प्रारूपों को सहेज कर रखे हैं। इस कार्यकाल में मुझे श्री नायपाल के मामा श्री शंभूनाथ कपिलदेव एवं माताजी से मिलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उन दिनों करेबियन में लेखक की 'एन एरिया ऑफ डार्कनेस' की चर्चा के साथ-साथ नोबेल पुरस्कार के लिये उनके नाम का प्रस्तावित होना सभी के लिये गर्व की बात थी। श्री नायपालजी के सम्बंधी तो और भी अधिक उत्साहित थे और उनकी रचनाओं को भारतीय पितरों का ऋण उतारने की एक प्रक्रिया मान रहे थे। इसी क्रम में मारीशसमें कार्य करते हुए मुझे हिन्दी और फ्रेंच के अधिकारी विद्वान श्री अभिमन्यु अनंत की याद आती है, जिन्होंने अपने उपन्यासों में भारतीय लोक-संस्कृति को उजागर किया है। आचार्य राम चंद्र शुक्ल ने प्राचीन पारस के इतिहास पर गंभीर चिन्तन करते हुए पारसियों और वैदिक आर्यों में उपासना, कर्मकांड और अग्निहोत्र में समानता बतलाकर भारतीय संस्कृति के विश्वव्यापी रूपकी चर्चा की है और डॉ. रमानाथ त्रिपाठी ने सूर और तुलसी के काव्य में निहित भारतीय संस्कृति की पावन

गंगोत्री का समूचे विश्व में प्रवाहित होना परम सत्य माना है। डॉ. त्रिपाठी रामकाव्य के अधिकारी विद्वान होनेके कारण झोपड़ी से महल तक अपने राम का शील प्रसारित होते देखते हैं। भारतीय एकता की चर्चा करते हुए श्री भगवान सिंह ने अनावश्यक भाषायी विवाद को मिटाने में हिंदी और उर्दू दोनों का एक-सा योग स्वीकारा है। हर रूप में यह अंक नितान्त पठनीय और संग्रहणीय है। आज के युग में हमारे अतीत और वर्तमानका ज्ञान कराने के कारण इस तरह की पत्रिकायें अपनी विशेष उपयोगिता रखती हैं। **डॉ. हरगुलाल गुप्त (अवकाश प्राप्त रीडर एवं राजनियक), दिल्ली।**

‘चिन्तन-सृजन’ का वर्ष 2 अंक 1 मिला। आपके संपादकीय में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाये गये हैं। आवश्यक है कि सुधीजन इन पर गंभीरता से चिन्तन करें। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के ‘पारस के इतिहास’का प्रकाशन महज धरोहर ही नहीं है उससे अधिक भी कुछ है। श्री रमेश चंद्र शाह का आलेख इस अंक का गौरव है। डॉ. नंदलाल मेहता और श्री भगवान सिंह के लेख भी पठनीय हैं। कुल मिलाकर अंक सुन्दर बन पड़ा है। **डॉ. कृष्णचन्द्र गोस्वामी, राष्ट्रीय महामंत्री, अखिल भारतीय साहित्य परिषद, नई दिल्ली।**

‘चिन्तन-सृजन’ का अक्टूबर-दिसम्बर 2004 का अंक पढ़ने को मिला। समस्त सामग्री पत्रिका के नाम के अनुरूप है। श्री सत्यमित्र दुबे ने बड़े विस्तार से नवजागरण पर पुनर्दृष्टि डाली है। आचार्य शिवपूजनसहायजी पर दो आलेख हैं। डॉ. श्रीरंजन ने उनकी संपादन कला पर समुचित प्रकाश डाला है। आज तो पत्रकारिता का महत्त्व बहुत बढ़ गया है। अच्छा रहेगा वे इस पर पूरी पुस्तक लिखें क्योंकि उन्होंने उनको जितना निकट से देखा है दूसरों ने नहीं। डॉ. तरुण ने ‘सृजन’ को उचित परिवेश में रखा है क्योंकि वह स्वयंसर्जनात्मक-वृत्ति के हैं। डॉ. पांचाल का आलेख ऐतिहासिक महत्त्व का है। अंकिया नाटकों पर श्री धर्मदेव जी ने मनोयोग से लिखा है। वरिष्ठ प्रशंसक श्री जगदीशचन्द्र माथुर तथा डॉ. दशरथ ओझा ने मिलकर इस दिशा में महत्त्वपूर्ण पुस्तक लिखी थी। आपका विचारोत्तेजक संपादकीय पढ़ा। हार्दिक बधाइयाँ। **कैलाशचंद्र भाटिया, अलीगढ़**

मकर संक्रमण कर सूर्य तेजस्वी हो रहा है। हमारे देश का जीवन भी तेजस्वी हो। पर इसकी तेजस्विता को क्षत-विक्षत करने के लिए षड्यंत्र निरंतरित है। आप ऐसे चिंतक संपादक इस षड्यंत्र को विफल कर देश के जीवन में तेज जगा सकते हैं। **शत्रुघ्न प्रसाद, पटना।**

‘चिन्तन-सृजन’ उच्चस्तरीय पत्रिका है। इसमें प्रकाशित सामग्री अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। यह पढ़कर फेंकने या कबाड़ी को बेचने की नही राष्ट्रीय जीवन को प्रभावित करने की पत्रिका है। इसका व्यवहार भी उस तरह की पत्रिकाओं के चलन के अनुरूप रहेगा, तो इसका समादर बढ़ेगा ही, घट वह किंचित भी नहीं सकता। आशा है आप सानन्द और उत्साह पूर्वक अपने कार्य में लगे हुए होंगे। हार्दिक शुभकामनाएं स्वीकारकरें। **श्री बाबू राम वर्मा, देहरादून**

चिन्तन-सृजन का ताजा अंक मिल गया है। लोकेश चंद्रजी, सत्यमित्र दुबेजी के लेख भी पढ़े हैं अभी, जो बहुत अच्छे हैं। कुतूहलवश परमानंद पांचालजी का लेख भी पढ़ गया। इस तरह की सामग्री भी (विज्ञान विषयक, भारतीय उपलब्धियों पर) आवश्यक है, पत्रिका की श्रीवृद्धि के लिए। श्री महेश दुबे गणित पर अच्छा लिखते हैं। विज्ञान-प्रकाश नाम की महत्त्वपूर्ण पत्रिका में उनके लेख आते रहते हैं। उनसे भी एक लेखमांगें तो अच्छा रहेगा। **रमेश चन्द्र शाह, भोपाल।**

‘चिन्तन-सृजन’ के अंक नियमित रूप से मिल रहे हैं। सचमुच इस पत्रिका की रूप-सज्जा आँखों को तृप्त करती है, तो इसकी सामग्रियाँ मन-मस्तिष्क को आह्लादित एवं उन्मीलित। **डॉ. श्रीभगवान सिंह (रीडर) स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग, भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर, बिहार।**

‘चिन्तन-सृजन’ का अक्टूबर-दिसम्बर 2004 का अंक प्राप्त हुआ। इसमें प्रकाशित सभी लेख ज्ञानवर्द्धक, तर्कपूर्ण चिन्तन से पूर्ण, गवेषणात्मक है। सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य के अन्तर्गत “बौद्धिक दरिद्रता के खतरे विषय पर सम्पादक बी. बी. कुमार जी का यह विचार अक्षरशः सत्य है कि आज जिन्हें देश और समाज को दिशा देनी चाहिए वे स्वयं चिन्तन और लेखन में दिग्भ्रमित हैं। इसका एक मात्र कारण मार्क्स पुत्र मार्क्सवादियों एवं मैकाले पुत्र तथा कथित धर्म निरपेक्षवादियों इन दोनों बौद्धिक प्रजातियों के कारण ही हमारे इतिहास, परम्परा, दर्शन भाषा, संस्कृति आदि की अंग्रेजों द्वारा गलत व्याख्याएँ की गईं, वे आज भी उसी रूप में पढ़ाई जा रही हैं। अभी कुछ दिनों पूर्व शिक्षा क्षेत्र की दशा एवं दिशा तय करने वाली संस्था ‘एनसीईआरटी’ ने मूल्यपरक शिक्षा को ध्यान में रखकर पाठ्यक्रम की रूपरेखा में परिवर्तन किया। इतिहास की पुस्तक से वह अंश निकाल दिया गया जिसमें यह वर्णन था कि आर्य ‘गोमांस’ खाते थे। इस परिवर्तन से उद्वेलित वामपंथी इतिहासकारों ने हाय-तोबा मचाया और भगवाकरण का आरोप लगाकर खारिज करने का प्रयास किया। यदि यह सत्य भी है कि प्राचीन समय में आर्य ‘गोमांस’ खाते थे, तो उस समय कुछ विशेष परिस्थिति रही होगी। आज उस प्रसंग को पढ़ाकर अपरिपक्व मतिष्क के बच्चों में

किस मूल्य बोध को स्थापित किया जा सकता है? यथार्थ को यथार्थ रूप में प्रकट करके बौद्धिक गोष्ठियों में विजयी बनने का एक कौशल हो सकता है, परन्तु सर्वथा यथार्थ में जीना असंभव है। विश्व के इतिहास में बड़ा से बड़ा

यथार्थवादी भी जीवन को सर्वथा नग्नरूप में नहीं जी सकता है। शवच्छेद (post mortem) चिकित्सा विज्ञान का एक महत्त्वपूर्ण अंग है, किन्तु शवच्छेद की प्रक्रिया पूर्णतः एकान्त में सम्पन्न की जाती है। चिकित्सक केवल उसके निष्कर्षों को ही लिखित रूप में न्यायालय में प्रस्तुत करता है। यदि शवच्छेद की प्रक्रिया खुले चौराहे पर पूरी की जाय और न्यायालय में लिखित निष्कर्षों के स्थान पर शव का प्रदर्शन कियाजाय तो उसके परिणाम स्वरूप ऐसा बीभत्स दृश्य उत्पन्न होगा जो लोगों के जीवन को दूबर बना देगा। इतिहास एक प्रकार का शवच्छेदन ही है। केवल उसके निष्कर्षों को ही जनसाधारण के समक्ष रखना चाहिए। उसे इस सीमा तक नग्न नहीं किया जाना चाहिए कि पाठक या विद्यार्थीके मन में अपने देश, समाज और संस्कृति के प्रति घृणा का भाव उत्पन्न हो। ऐसे संक्रमित समय में 'आस्थाभारती' ने उच्चस्तरीय बौद्धिक चिन्तन एवं बहस के द्वारा भारतीय जनमानस में अपने चिरसंचित धर्म, साहित्य और संस्कृति के प्रति स्वत्वबोध जागृत करने का जो संकल्प लिया है वह स्तुत्य है। प्रो. (डॉ.) धर्मदेव तिवारी 'शास्त्री' का लेख 'अंकीया नाटकों के स्रोत एवं उनकी विशेषताएँ, शोधपूर्ण, सारगर्भित और आंचलिक साहित्य के महत्व को उद्घाटित करता है। निःसन्देह इस प्रकार के विद्वतापूर्ण लेख से आंचलिक साहित्य में छुपी ज्ञान रश्मियों का उद्घाटन होगा। जिससे हिन्दी भाषा एवं राष्ट्रीय सांस्कृतिक एकता बलवती होगी। डॉ. अरुण कुमार पाण्डेय, प्रवक्ता, हिन्दी विभाग, दोन्धी पोला शासकीय महाविद्यालय, अरुणाचल प्रदेश।

'चिन्तन-सृजन' बहुत अच्छा चल रहा है। आपका सम्पादकीय 'बौद्धिक दरिद्रता के खतरे' इस दिशा में आज की चिंतनीय स्थिति पर मार्मिक टिप्पणी है। विश्वविद्यालयों और विद्यालयों में बुद्धिजीवियों का एक बड़ा तबका दोयम दर्जे से भी बदतर किस्म का है। उनमें से कई के लिए पुस्तकें और पत्रिकाएँ अजूबों की तरह हैं। उनमें से अनेकों का अपने पिषय का भयावह ज्ञान-दारिद्र्य चौंकाने वाला होता है। कई तो आजीवन अपने वेतन से कोई किताब या पत्रिका नहीं खरीदते। प्रोफेसर मदनमोहन तरुण, पूर्व प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, भाषा संकाय एल बी एस नेशनल एकेडेमी ऑफ एडमिनिस्ट्रेशन, मसूरी एवं पूर्ववरिष्ठ अकादमिक अधिकारी, नेशनल डिफेंस अकादमी, खडकवासला, पुणे।

... यह पत्रिका मुझे अन्य पत्रिकाओं से भिन्न लगी। यह व्यापक दृष्टिबोध वाली ज्ञानवर्धक तो है ही, साथ ही मणिपुर या अन्य उत्तर-पूर्वी राज्यों की इसमें चर्चा

भी दिखाई दी, जो अन्य हिन्दी पत्रिकाओं में कम ही दिखाई देती है। डॉ. ई. विजयलक्ष्मी, इम्फाल, मणिपुर।

आपने इस अंक में मेरे आलेख को (आचार्य शिवजी की सम्पादन साधना से सम्बद्ध) सम्मिलित करमुझे जो बड़भाषी बनाया है, उसके लिए मैं आपका अन्तःकृतज्ञ हूँ। कर्मेन्दु शिशिरजी का भी आलेख आचार्यशिवजी के सन्दर्भ में प्रामाणिक है; क्योंकि वह (शिशिरजी) आचार्यजी के प्रिय स्वजनों में अन्यतम हैं। 'चिन्तन-सृजन' का प्रत्येक अंक 'शोध-सन्दर्भ समाकलन-विशेषांक' की गरिमा आयत्त करता है। अक्टूबर-दिसम्बर 2004 का अंक भी उसी कोटि में पांक्त्य है। पौरस्त्य और पाश्चात्य, नवीन और प्राचीन साहित्य चेतना की संवाहिका के रूप में इस पत्रिका ने अपने जिस व्यक्तित्व की इयत्ता अधिकृत की है, उसकी निश्चय ही द्वितीयता नहीं है। इसने अनेक लेखनी-कृपण प्रमुख लेखकों को भी केवल आवर्जित ही नहीं किया है, वरन लिखने के लिए भी लालायित और समुत्सुक किया है। अवश्य ही, इसमें छपने पर सारस्वत कृतार्थता का बोध होता है। सार्वश्री यशदेव शल्य, सत्यमित्र दुबे, मदन मोहन तरुण, विजयराघव रेड्डी आदि लेखक 'रामो द्विर्नाशि-भाषते' वाल्मीकि की इस शक्ति को अन्वर्थ करते हैं। अवश्य ही इनकी प्रज्ञाप्रौढ लेखनी से स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी शोध साहित्य ततोऽधिक समृद्ध हुआ है। मेरी आकांक्षा है, यह त्रैमासिकी अपने विषय की महार्थता और मुद्रण की कला वरेण्यता का दिनानुदित उन्नीत करती रहे। हिन्दी की साहित्यिक पत्रकारिता के इतिहासमें क्रोशशिला कायम करे। डॉ. श्रीरंजन सुरिदेव, पटना।

आप द्वारा प्रेषित सामग्री प्राप्त हुई, धन्यवाद। हिंदी के विभिन्न उपादेय विषयों पर आपने अधिकारीविद्वानों की रचनाएं प्रकाशित कर महत्त्व का कार्य किया है। किसी भी देश की भाषा का व्यावहारिक अनुप्रयोग तभी संभव है जब अन्यान्य विधाओं में उसमें नियमित समसामयिक लेखन सुनिश्चित हो। आज केसमय में पत्रकारिता का नियमित प्रचालन/संचालन किसी बड़ी चुनौती से कम नहीं है। आशा है सरकारी उपयोग के किसी महत्वपूर्ण विषय पर आप कोई विशेषांक आने वाले समय में केंद्रित करने का प्रयास करेंगे। विगत 13 वर्षों से प्रकाशित हमारे संस्थान की पत्रिका 'विकल्प' ने अभी सामान्य अंकों से इतर 'अनुवाद', 'राजभाषा', 'विज्ञान पत्रकारिता', 'स्वर्ण जयंती', 'पुराण विज्ञान', 'सूचना प्रौद्योगिकी' आदि विषयों पर विशेषांक प्रकाशित किये हैं, जिनका विद्वत समाज में आदर हुआ है। आशा है इसी प्रकार आपका सहयोग प्राप्त होता रहेगा। 'विकल्प' परिवार की ओर से पत्रिका से जुड़े सभी सहकर्मियों को इस हेतु साधुवाद। -- डॉ. दिनेश चमोला, प्रभारी, राजभाषा अनुभाग, एवं संपादक 'विकल्प', भारतीय पेट्रोलियम संस्थान, देहरादून।

आपकी पत्रिका 'चिन्तन-सृजन' से परिचय हुआ अपने एक मित्र के माध्यम से। इसमें प्रकाशित हसन जमाल साहब के पत्र से मन आहत हुआ। ... सेकुलर, प्रगतिशील और जनवादी कहलाने की अंधी दौड़ में शामिल लोगों ने अपने देश, धर्म, जाति, और सबसे आगे समूचे हिन्दू कौम को गाली देना अपना पेशा बना लिया है जिसका प्रतिकार आवश्यक है। ... आपका सम्पादकीय 'लेखकीय एवं...स्वरूप' विचारोत्तेजक, चिन्तनशील और यथार्थपरक है। अभिजात्य मानसिकता से उद्भ्रांत लेखकों की रचनाओं में आत्म प्रदर्शन की भावना अधिक और साहित्य-सृजन की प्रतिबद्धता अपेक्षाकृत कम होती है। दूसरी भाषाओं के शब्दों को हिन्दी परिवेश, व्याकरणिक मान्यताओं और भारतीय संस्कृति के अनुरूप ही स्वीकार कर प्रयोग किया जाना आवश्यक ही नहीं, अपरिहार्य अनिवार्यता भी है। सच कहें तो हिन्दी का तिरस्कार और अहित जितना हिन्दी-भाषियों ने किया उतना दूसरों ने नहीं। मातृभाषा हिन्दी के प्रति अनादर, उपेक्षा, अरुचि और हीनता का भाव न साहित्यिक हित में है न राष्ट्रहित में। आपने गद्य विधा को ही चिन्तन-सृजन का माध्यम बनाया है। क्या कविता (काव्य) चिंतनहीन होती है? अगर नहीं तो क्या आपकी पत्रिका का गद्यात्मक स्वरूप एकांगी नहीं! **रजनीकान्त पाण्डेय 'व्याकुल', सेवानिवृत्त सहायक जिला शिक्षा अधिकारी, आलोग, अरुणाचल प्रदेश।**

चिन्तन-सृजन सूरज है, मेरा जिन्दगी के साथ रहेगा। फजूल नावेल, कहानी, गीत, नजम, डेरों पत्रिकाएं, पुस्तकें इधर अकेला चिन्तन सृजन ही बहुत है। तीसरी आंख खुलती है, ज्ञान की रोशनी मिलती है। **अशोक कुमार, मुड़की, फरीदकोट, पंजाब।**

चिन्तन-सृजन (त्रैमासिक) अक्टू-दिस. 04 मिला। बहुत हर्ष हुआ। अंक बहुत सराहनीय तथा संग्रहणीय है। टाईप भी बहुत अच्छा है। घर के सभी ने सराहा। कृपया स्नेह बनाकर रखें। **लक्ष्मीकांत प्र. दाभाडकर, जालना।**

'चिन्तन-सृजन' के दो अंक मिले। निश्चय ही आपकी घोषणा के अनुरूप पत्रिका वैचारिक दृष्टि से वजनदार है। प्रायः प्रत्येक लेख में बुद्धि को समृद्ध करने की दिशा में श्लाघ्य क्षमता विद्यमान है। कोई शोध की दृष्टि से मण्डित है तो कहीं वैदुस्य की जाकिया विद्यमान है। निश्चय ही लेख मानदेय की अर्हता रखते हैं। **राममूर्ति, त्रिपाठी, उज्जैन।**

कल संघ कार्यालय (राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ) में आपकी पत्रिका पढ़ने को मिली। हिन्दी में इस स्तर की पत्रिका ही हिन्दी के सम्मान को वास्तव में स्थापित कर सकती है। पत्रिका पढ़कर मन प्रसन्न हो गया। निर्मल वर्माजी का लेख भी अद्वितीय है। ईश्वर ने चाहा तो कभी आपके दर्शन करूँगा। **राजकमल, दिल्ली।**

With Best Compliments from:

**CAPITAL BUSINESS SYSTEMS LTD.
(A unit of Khurana Group of Companies)**

30-B, Prehlad Market, Karol Bagh, New Delhi-110005
Phone No. 011-25722617, 25732727, 25762034/35/36
Fax. No. 011-25753975
E-mail: cbsl@vsnl.com, Website: www.kbpl-india.com

One of the Largest Security Printers in India having following independent units.

SECURITY PRINTING DIVISION

**CASH MANAGEMENT &
CURRENCY HANDLING DIVISION**

PLASTIC DIVISION

DATA CONVERSION & DIGITIZATION DIVISION

RECORD MANAGEMENT DIVISION

समीक्षार्थ पुस्तकें: प्राप्ति-स्वीकार

‘मैं जगत की नवल गीता-दृष्टि’, कविता संग्रह, मदनमोहन तरुण; प्रकाशक: तारुण्यम, पूर्ण; प्रथम संस्करण: 2004; पृष्ठ 172, मूल्य 100 रुपये।

‘लक्ष्य-सोपान’, केशिकान्त, काव्य, पाण्डुलिपि, पृष्ठ अपपप214य पंजाबी विश्वविद्यालय परिसर, पटियाला, पंजाब।

‘विचार और व्यंग्य’ (वैचारिक आलेख एवं व्यंग्य संग्रह), लेखक एवं प्रकाशक: प्रो. कमला प्रसाद ‘बेखबर’, फारबिसगंज, बिहार; प्रथम संस्करण: 2004, 172 पृष्ठ।

‘तीसरी दुनिया के लिए’, कविता-संग्रह; कवि: डॉ. वरुण कुमार तिवारी, मीनाक्षी प्रकाशन, दिल्ली; प्रथम संस्करण: 2002; 80 पृष्ठ; मूल्य 50.00 रुपये।

‘आज का समाजवाद’, लघु कथा संग्रह; कृत नारायण प्यारा; रचनाकार प्रकाशन, पूर्णिया; प्रथम संस्करण: 2004; 64 पृष्ठ, मूल्य: 50 रु. (सजिल्द), 25 रु. (अजिल्द)।

‘किंशुक कथा’, कहानी-संग्रह; कृत नारायण प्यारा; रचनाकार प्रकाशन, पूर्णिया; प्रथम संस्करण: 2004; 160 पृष्ठ, मूल्य: 150 रुपये (सजिल्द), 50 रुपये (अजिल्द)।

‘सदाकांक्षा’, (रचनात्मक साहित्य वार्षिकी), संपादक, ‘सदाकांक्षा’, इस्लामी साहित्य संगम, दिल्ली; 144 पृष्ठ, मूल्य: 60 रुपये।

‘आचार्य श्री नलिन विलोचन शर्मा की आलोचना साधना’, समालोचना, डा. विश्वनाथ प्रसाद; अयन प्रकाशन, नयी दिल्ली; प्रथम संस्करण: 2003; 186 पृष्ठ, मूल्य: 200 रुपये।

‘आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के उपन्यासों में अभिव्यक्त इतिहासदर्शन’; समोचना, डा. विश्वनाथ प्रसाद, मीनाक्षी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण: 2003; 160 पृष्ठ; मूल्य: 160 रुपये।

‘काव्य और संस्कृति का अंतस्संबंध एवं अन्य निबंध’, निबंध संग्रह, डॉ. विश्वनाथ प्रसाद; मीनाक्षी प्रकाशन, दिल्ली; प्रथम संस्करण: 2004; 148 पृष्ठ, मूल्य: 150 रुपये।

‘चंदवरदाई कृत प्रिथीराजरासउ’ (भाग एक: आदि पर्व से कैमास वध तक), प्रो. राजमल बोरा; मिलिन्द प्रकाशन, हैदराबाद; प्रथम संस्करण: 2004, 192 पृष्ठ, मूल्य: 200 रुपये।

‘उज्जयिनी का प्राचीन इतिहास एवं सिंहस्थ महात्म्य’, अनिल गुप्ता “अनिल”, महाकाल भ्रमण प्रकाशन, उज्जैन, प्रथम संस्करण: संवत् 2061/ 2004 ई.; 142 पृष्ठ, मूल्य: 30 रुपये।

Dialogue :

Quarterly English Journal of
Astha Bharati, Delhi

22nd issue already published

Published Special Numbers:

Illegal Migration from Bangladesh
Central Asia

Fiscal Mismanagement in North East India

Maoist Insurgency in Nepal and India

India: Security Dimensions,

Indian Islands: Andaman & Nicobar Islands and Lakshadwip

South-East Asia

Secularism: India in Labyrinth

India's Neighbourhood

Governance in the North-East

Policing in India

India and Central Asia

Forthcoming Issues:

Population Issues

Indo-Pakistan Relations